“‘DALIT SOUNDARYASHASTRAM’ KA HINDI ANUVAD, VISHLESHAN EVAM MULYANKAN”

A dissertation submitted during (Year) 2019 to the University of Hyderabad in partial fulfilment of the award of a M.Phil. Degree in CDAST, School of Humanities.

BY

AISWARYA K V

17HDHL01

2019

CENTRE FOR DALIT AND ADIVASI STUDIES & TRANSLATION,

SCHOOL OF HUMANITIES

UNIVERSITY OF HYDERABAD

(P.O) CENTRAL UNIVERSITY, GACHIBOWLI

HYDERABAD-500 046 (T.S.)

INDIA

“‘दलित सौन्दर्यशास्त्रम’ का हिन्दी अनुवाद, विश्लेषण एवं मूल्यांकन”

(हैदराबाद विश्वविद्यालय की एम. फिल. (CDAST) उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबंध)

शोधार्थी

ऐश्वर्या के वी

17HDHL01

2019

दलित-आदिवासी अध्ययन एवं अनुवाद केंद्र

मानविकी संकाय

हैदराबाद विश्वविद्यालय

हैदराबाद-500046

तेलंगाना

CERTIFICATE

This is to certify that the dissertation entitled **"'DALIT SOUNDARYASHASTRAM' KA HINDI ANUVAD, VISHLESHAN EVAM MULYANKAN"** (**"'दलित सौन्दर्यशास्त्रम' का हिंदी अनुवाद, विश्लेषण एवं मूल्यांकन"**) submitted by **AISWARYA K V** bearing the Reg. No. 17HDHL01 in partial fulfilment of the requirements for the award of Master of Philosophy in Centre for Dalit and Adivasi Studies & Translation is a bonafide work carried out by her under my supervision and guidance which is plagiarism free dissertation.

This dissertation has not been submitted previously in part or in full to this or any other University or Institution for the award of any degree or diploma.

Signature of the supervisor

Head of the Department

Centre for Dalit and Adivasi Studies & Translation

Dean

School of Humanities

DECLARATION

I, AISWARYA **K V**, hereby declare that this dissertation entitled **"'DALIT SOUNDARYASHASTRAM' KA HINDI ANUVAD, VISHLESHAN EVAM MULYANKAN"** (**"'दलित सौन्दर्यशास्त्रम' का हिंदी अनुवाद, विश्लेषण एवं मूल्यांकन"**) submitted by me under the guidance and supervision of **PROF. R.S. SARRAJU** is a bonafide research work which is also free from plagiarism. I also declare that it has not been submitted previously in part or in full to this University or any other University or Institution for the award of any degree or diploma. I hereby agree that my dissertation can be deposited in shodhganga/INFLIBNET.

Name: **AISWARYA K V**

(Signature of the student)

Registration No. 17HDHL01

Date: /06/2019

<u>अनुक्रमणिका</u>

भूमिका

प्रथम अध्याय :

1.1 रचनाकार एवं रचना 01

1.2. अनुवाद की आवश्यकता 12

द्वितीय अध्याय : 23

'दलित सौंदर्यशास्त्रम' निबंध संग्रह का हिंदी अनुवाद

तृतीय अध्याय : अनूदित पाठ का विश्लेषण 125

3.1. अनुवाद परिचय

3.2. अनुवाद योजना एवं प्रयुक्त विधि 129

3.3.अनुवाद का विश्लेषण 131

3.3.1 पाठ का विश्लेषण 131

3.2.2. शब्द प्रयोग 135

3.2.3. वाक्यनिर्माण 139

3.2.3. सम्प्रेषणव्यवस्था 144

3.3. अनुवाद की समस्याएँ 147

3.3.1 सांस्कृतिक शब्दावली 147

3.3.2 अननुवदानीयता 150

उपसंहार 152

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची 156

भूमिका

प्रत्येक वस्तु में सुन्दरता देखने की क्षमता केवल मनुष्य में है। क्योंकि उसकी चेतना वस्तु तक नहीं, वस्तु विशेष तक व्याप्त है। वह एक फूल को देखता मात्र नहीं उस फूल को सजाता भी है। यह सौन्दर्य बोध मानव की अंदरूनी सर्जनात्मकता का दूसरा अभिधान है। अरस्तु की राय में मानव अपने अनुकरण के माध्यम से प्रकृति में जो सुन्दरता है उसको पूर्ण रूप देने की कोशिश करता है। एक प्रकार से मानव के सौन्दर्य बोध अपनी आतंरिक सत्ता का प्रस्फुटन है। सौन्दर्य एवं अनंद का सम्बन्ध सीधे हृदय से है किन्तु वर्ण के आधार पर जैसे ही मनुष्य को विभाजित किया गया वैसे मानसिक रूप से मनुष्य संकुचित भी होता गया। 'अस्पृश्य', 'अछूत', 'अशास्त्रीय' आदि 'अ' का प्रयोग इस मानसिकता का फलस्वरूप है। इस अवधारणा ने दलित और आदिवासी जनता को मानव की श्रेणी में देखने से इंकार कर दिया गया।

सौंदर्य की अभिव्यक्ति कला का उद्‌देश्य है। 'दलित सौन्दर्यशास्त्रं' नामक निबंधसंग्रह से मलयालम के दलित आलोचक एवं लेखक 'प्रदीपन पम्बिरिक्कुन्नु' दलित साहित्य कला एवं उनके व्यवहारों को केरल के परिप्रक्ष्य में पाठकों के सामने प्रस्तुत करते है। एक मलायालम रचना का हिंदी में अनुवाद भारतीय साहित्य को और विस्तृत बनाते है तथा हिंदी पाठकों के लिए नयी अनुभूति होगी।

सौंदर्यशास्त्र की एकरूपता पर सवाल करने की हिम्मत पहली बार दलित साहित्य ने की है। हिंदी में दलित सौन्दर्यशास्त्र की रचना होने पर भी प्रस्तुत मलयालम रचना का अनुवाद करना इसलिए ज़रूरी है लेखक ने साहित्य के अलावा कला, संस्कृति, भाषा आदि का केरलीय समाज के परिप्रक्ष्य में बारीकी से व्याख्या करने का प्रयास किया है।

भारतीय समाज का एक ज़माना ऐसा भी था जहाँ सिर्फ अतियथार्थ की बात की जाती थी। इस कारण से दलित जनता और उनकी सर्जनात्मकता सदा हाशिये की ही रह गयी। इस अतियथार्थता के फलस्वरूप पाप, पुण्य, आदि मिथ्या का प्रचार हुआ। लोगों का मानना था कि दुख उनके पापों का परिणामफल है। इस तरह सवर्ण समाज ने दलितों को स्वयं की नज़र में गिरने में मजबूर कर दिया। भारतीय साहित्य में आत्मा का अन्वेषण करता है, किन्तु उस आत्मा का मूल कारण की चर्चा कहीं नहीं हुई है। सौन्दर्य का यह एकशिलात्मक रूप जिस आनंद की बात कर रहा था उस आनंद से उस उपेक्षित साधारण जनता वंचित थे। वे उस आनंद से संवाद करने में असमर्थ रह गए। उसका भौतिक रूप बदलकर ब्रह्मानंद हो गया, उदात्त तथा वरेण्य हो गया। इस कारण से अनुभूति की सामाजिकता नष्ट होने लगी। इस आनंद का प्रयोग आस्वादन, उपभोग आदि सीमित अर्थ में होने लगा। विभिन्न भारतीय भाषाओँ में रचित सौन्दर्य शास्त्र संबंधी रचनाओं के समग्र अनुवाद से ही दलित सौन्दर्यशास्त्र का नया स्वरूप उभरकर आएगा।

दलितों का संघर्ष उत्तर और दक्षिण भारत में हमेशा रहा है, किन्तु दोनों का स्वाभाव अलग अलग था, उत्तर भारत में मुख्यतः जिंदा रहने के लिए दलितों ने संघर्ष किया तो केरल में वह संघर्ष प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिए था। साहित्य के कई कर्म है तथा अनुवाद के भी। एक भाषा से दूसरी भाषा में साहित्य के रूपांतरण को अनुवाद कहलाया जाता है। यहाँ केवल भाषा या रचना का रूपांतरण नहीं होता है बल्कि यहाँ कई सांस्कृतिक तत्वों का एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में यात्रा होती है। भारत जैसे बहुभाषी देश में अनुवाद की भूमिका और महत्व पर कोई संदेह नहीं है। भारत की भाषाएँ वैविध्यपूर्ण है, उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम आदि भाषाओँ में अंतर के साथ साथ समानता भी देख सकती है क्योंकि देश तो एक ही है। इन समानता और असमानताओं का बोध दिलाने में अनुवाद का कार्य बहुत मत्वपूर्ण है। हिंदी

जैसे उत्तर भारतीय भाषा और मलयालम जैसे द्रविड़ भाषा के बीच में अनुवाद के ज़रिये सम्बन्ध का एक पुल बनाना आसान नहीं है और इतना कठिन भी नहीं है।

मलयालम साहित्य में आज प्रासंगिक एवं विकासशील साहित्य शाखा है दलित साहित्य। मलयालम में दलित साहित्य और हिंदी दलित साहित्य के बीच में एक सेतु बनाकर साहित्य के क्षेत्र को आगे बढ़ाना और विस्तृत करना हमारा उत्तरदायित्व है। मलयालम के प्रमुख दलित साहित्यकार प्रदीपन पम्बिरिक्कुन्नु द्वारा रचित निबंध संग्रह 'दलित सौन्दर्यशास्त्रम' आज मलयालम दलित साहित्य के क्षेत्र में आधार बिंदु सामान बन चुका है। यह बात साफ़ नज़र आती है कि पुस्तक के लेखन में आपने प्रस्तुत क्षेत्र में कई अध्ययन किया है तथा समस्याओं को बारीकी से परखा है। इस निबंध संग्रह को हिंदी में अनुवाद करने की आवश्यकता मुझे महत्वपूर्ण लगा। यह कार्य इस शोधकार्य के ज़रिये संपन्न होने वाला है। हैदराबाद विश्वविद्यालय के दलित आदिवासी अध्ययन एवं अनुवाद केंद्र में एम.फिल के विषय के रूप में प्रस्तुत पुस्तक के अनुवाद करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है।

मेरे लघु शोध प्रबंध का विषय है प्रदीपन पम्बिरिक्कुन्नु द्वारा रचित 'दलित सौन्दर्यशास्त्रम' का हिंदी अनुवाद, विश्लेषण एवं मूल्यांकन'। यह शोध कार्य प्रोफ. आर.एस सर्राजू जी के निर्देशन में किया गया है। इस शोध का मूल आधार अनुवाद है। इस शोध कार्य की पूर्ती केलिए मुख्य रूप से भावानुवाद तथा गौण रूप से शब्दानुवाद एवं छायानुवाद अपनाया गया है। यह पुस्तक चौदह निबंधों का संग्रह है। इसमें केरल के दलितों के सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि समस्याओं के विभिन्न पहलुओं पर चर्चा करने का प्रयास लेखक ने किया है। प्रस्तुत अनुवाद का उद्देश्य दलित सहित्य को आगे बढ़ाने के साथ साथ केरल के दलित साहित्य तथा

मलयालम साहित्य के ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का परिचय अन्य भाषा भाषियों को करना भी है।

प्रस्तुत शोध तीन मुख्य अध्यायों में विभाजित किया गया है। प्रथम अध्याय में लेखक और पुस्तक का परिचय तथा अनुवाद की आवश्यकता पर चर्चा की गयी है। पुस्तक के परिचय के अंतर्गत चौदह निबंध संग्रहों में चर्चित मुख समस्याओं को केंद्र में लाने की कोशिश की गयी है। दूसरे अध्याय में 'दलितसौन्दर्यशास्त्रम' के चौदह अध्यायों का अनुवाद किया गया है। इस कार्य में मुझे कई समस्याओं का भी सामना करना पड़ा। इन समस्याओं का तथा अनुवाद का विश्लेषण एवं मूल्याकन शोध के तीसरे अध्याय में किया गया है। इसमें पाठ के कथ्यपरक, शाब्दिक, भाषागत, व्यकरणगत तथा सांस्कृतिक समानता तथा असमानता का विश्लेषण किया गया है।

शोध कार्य के दौरान कई चुनौतियों का सामना करना पड़ा। किन्तु अपने शोध निर्धेशक प्रोफ आर.एस सर्राजू जी के सही निर्देशानुसार शोधकार्य कोई रूकावट के बिना मैं पूर्ण कर पाई। मैं अपने शोध निर्देशक का आभार प्रकट करती हूँ जिन्होंने सही समय पर मुझे सही मार्ग दिखाकर मेरी सहायता की। दलित आदिवासी अध्ययन एवं अनुवाद केंद्र के प्रति तथा केंद्र सभी गुरुजनों के प्रति भी मैं अपना आभार प्रकट करती हूँ, जिन्होंने इस विषय पर शोध करने की अनुमति मुझे दी तथा समय समय पर मेरा मार्ग-दर्शन किया। मेरे सह-शोध निर्देशक गजेन्द्र कुमार पाठक जी के प्रति भी मैं अपना आभार व्यक्त करती हूँ, जिन्होंने शोध की पूर्णता में मेरी सहायता की |

इस शोध कार्य के दौरान हुई छोटी छोटी मुश्किलों में मेरे साथ देने वाले मेरे परिवार का भी मैं आभारी हूँ। उसी तरह कुछ मित्रों की सहयोग भी इस शोध कार्य

पूर्ण करने हेतु हुआ है, उनके लिए मेरा स्नेह एवं आभार व्यक्त करती हूँ। अंत में लेखक प्रदीपन पम्बिरिक्कुन्नु एवं मलयालम दलित साहित्य तथा अन्य लेखक के प्रति भी आभार व्यक्त करती हूँ, जिनके बिना मेरा शोध कार्य अधूरा रह जाता।

ऐश्वर्या के वी

प्रथम अध्याय

रचनाकार एवं रचना

प्रदीपन पम्बिरिक्कुन्नु :

'दलित सौन्दर्यशास्त्रम' शीर्षक निबंध संग्रह के रचनाकार प्रदीपन पम्बिरिक्कुन्नु का जन्म 1969 में केरल के कोषिक्कोड जिला के पम्बिरिक्कुन्नु में हुआ था। इन्होने कालिकट विश्वविद्यालय से एम.ए मलयालम में प्रथम श्रेणी की उपाधी प्राप्त की। 'केरला संस्कारम ओरु दलित समीपनम' नामक विषय पर डॉक्टरेट की उपाधी भी प्राप्त की। आप श्री शंकराचार्य संस्कृत विश्वविद्वालय में अध्यापक थे। इनकी प्रमुख रचनाएँ है *'दलित पठनम : स्वत्वं संस्कारम साहित्यं'*, *'दलित सौन्दर्यशास्त्रम'*, तथा इनका एकमात्र उपन्यास है *'एरी'*। इनका निधन 2016 दिसम्बर 8 को एक दुर्घटना में हुआ था। मलयालम साहित्य में दलित लेखकों में से इनका नाम मशहूर है। इन्होने पहली बार मलयालम में दलित सौन्दर्यशास्त्र संबंधी अवधारणा का परिचय दिया। मलयालम साहित्य के प्रसिद्ध आलोचक एवं निरूपक राघवन अत्तोली ने 'करुप्पेषुत्तुकल' नामक अपने निबंध संग्रह में मलयालम में रचित दलित रचनाओं का संपादन करने का प्रयास किया है, उसमें प्रदीपन पम्पिरिक्कुन्नु के 'दलित सौन्दर्यशास्त्रम' को भी स्थान मिला है। प्रदीपन जी का उपन्यास 'एरी' में परयन जाति (एक दलित जाति का नाम) के 'एरी' नामक व्यक्ति के इतिहास की कथा है जो मन्त्र तंत्र के ज्ञाता थे, दलित जाती के होने के बावजूद उसकी इस प्रतिभा से सवर्ण भी डरते थे। वास्तव में यह उपन्यास मलयालम दलित साहित्य के लिए एक महत्वपूर्ण योगदान ही है।

प्रदीपन पम्बिरीक्कुन्नु के दलित सौन्दर्यशास्त्रम नामक पुस्तक में चौदह अध्याय हैं। पहला अध्याय है 'भारतीय सौन्दर्यशास्त्र और सवर्णानुभूति', इसमें भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का बुनियाद तत्व क्या है? किस तरह वह साहित्य का आधार बन रहा है आदि का वर्णन किया गया है। लेखक की राय में भारतीय साहित्य सवर्ण काव्यशास्त्रीय अवधारणाओं का देन है। भारत की संस्कृति और भाषा में विभिन्नता होने पर भी हर भाषा का साहित्य अपनी प्रकृति में निकटता स्थापित करता है। वास्तव में भारतीय काव्यशास्त्र को एकशिलात्मक (Monolethic) स्वाभाव नहीं होना चाहिए। काव्यशास्त्र ने हमेशा आंचलिकता का तिरस्कार किया है, इसमेंसामान्य जनता और उनके व्यवहार की बहुस्वरता की अपेक्षा की गयी है। भारतीय साहित्य तथा दार्शनिक अवधारणा हमेशा पाप, पुण्य, मोक्ष, परलोक, कर्मभूमी, भारतक्षेत्र, आर्षभारत, आदि संकल्पों से गुज़रते गए हैं। एक वक्त का खाने केलिए भी दिन रात एक करनेवाले साधारण व्यक्ति की कथा कोई नहीं कहते थे। लेखक ने प्रस्तुत पुस्तक में केरल के परिप्रेक्ष्य में साहित्य और सवर्णता को परखने का प्रयास किया है।

एषुत्तच्चन जिनको मलयालम भाषा के पिता कहा जाता है, और जिन्होंने मलयालम में 'रामायण' (अध्यात्म रामायणं) की रचना की है, स्वयं दलित होकर भी सवर्णों का ही गुण गान करते है। तथा उसी सवर्ण अवधारणा के आधार पर ही रामायणं की रचना भी की है। यह सवर्णों की अचूकता का उदहारण है।

साहित्य हमेशा आखंड भारतीय आत्मा और संस्कृति के पीछे था। किन्तु जिन्दे साधारण लोगों का क्या?

इस एकशिलात्मक सौन्दर्यानुभूति का आधार क्या था? वह 'सौन्दर्य' की अवधारणा ने केवल आनंद और आहलाद को केंद्र में रखा, जिस आनंद का अन्वेषण उपनिषत तक में हुआ है उसका तत्व केवल अलौकिता रहा है। इसीसे

आनंद ब्रह्मानंद सहोदर बन गया। किन्तु इस आनंद की प्राप्ति एक प्रत्येक वर्ग तक सीमित रही।

भारत के रस संकल्प को अलौकिक बना दिया गया। चतुर्विधाभिनय के संवेदन से अनुभूति की अभिव्यक्ति होती है और सहृदय व्यक्ति उसका अनुभव करके रस की निष्पत्ति होती है। भरत मुनि ने सामजिक रूप से रस की व्याख्या दी है किन्तु आनंद को ब्रह्मानंद सहोदर के रूप देने से वह अलौकिक बन गया। यही रस बाद में जाकर भागवत में वैष्णव का रूप धारण करता है। इसमें कहीं साधारण व्यक्ति की कोई भूमिका का प्रतिपादन नहीं है।

इन्हीं अवधारणाओं के फलस्वरुप 'दलित' चिंतन का आरम्भ होता है। दलित से तात्पर्य जाति से शुरू होकर उसमें ख़तम होने वाला तत्व नहीं है। उसका अर्थ और भी विस्तृत है वह जाति विरोध में केन्द्रित सत्य और वक्तित्व का अन्वेषण है, नीति का मांग करता है। जाति पर जिन आंदोलनों का जिन संगंठनों का आरम्भ एवं स्थापना हुई है वह जातीयता की स्थापना के लिए नहीं बल्कि उसके अंत के लिए हुआ था। किन्तु केरल में जाति के नाम पर जितने आन्दोलन और संघर्ष हुआ है आगे जाकर वह स्वयं एक राष्ट्रीय शक्ति बनकर हमारे सामने आता है।

सवर्ण मुख्य धारा ने जिस वर्ग को निशब्द कराया है उनका पुनर्जागरण का एक मार्ग था दलित सौन्दर्य अवधारण का उदय। दलितों की भाषा भी भाषा है उनकी भी एक संस्कृति है और वे भी कलाकार है।

दूसरा अध्याय है 'क्षेत्रीय आख्यान और तरवाड़ू (कोठी) का सांस्कृतिक मूल्य'। तरवाड़ू केरल में विरासत में मिलने वाला पुरखों के घर को कहा जाता है। उस संस्कृति पर भी सवर्ण का उपनिवेश हुआ है। असल में तरवाड़ू रहने के स्थल या घर से अधिक एक 'अवधारणा' है एक नोस्टालजिक संकल्प है। संयुक्त परिवार के विघटन से तरवाड़ू का संकल्प भी आज मिटता जा रहा है।

नायर समुदाय का व्यवहार किस तरह सामान्य जनता का व्यवहार के रूप में बदल गए इसका भी प्रमाण लेखक इस अध्याय में देते है, इसका कारण उन्होंने सवर्ण जाति के चढ़ाव ही कहा है। लेखक आगे यह भी कहते है आंचलिकता और विभिन्न क्षेत्र तथा उसकी संस्कृति की विशेषता किस तरह साहित्य से दूर जाता रहा है, सही अर्थ में कहे तो साहित्य किस तरह अपने विषय के रूप से क्षेत्रीयता की उपेक्षा करता रहा है। आगे मलयालम साहित्य में कुछ परिवर्तन आने लगे। क्षेत्र तथा वहां की भाषा एवं संस्कृति पर रचनाएँ होने लगी किन्तु उसपर भी कहीं न कहीं वरेण्य सस्कृति का चढ़ाव होने लगा और समाज स्वीकृति हमेशा वरेण्य साहित्य को ही मिली। पहली बार इसमें परिवर्तन कुंजन नम्बियार ने किया (नांबियार स्वयं स्वर्ण थे) है। उन्होंने अपने काव्यों को व्यंग्य के साथ नृत्य रूप से भी प्रस्तुत किया। लेकिन उनकी भी स्थिति वैसे ही थी उनके साहित्य और उनके व्यक्तित्व पर तथाकथित मुख्यधारा साहित्य और समाज ने मजाक उड़ाया। इस उपनिवेश को 'माप्पिला मलयालम' (मुस्लिम की मलयालम, खासकर मलबार क्षेत्र के मुस्लिम) ने एक हद तक विरोध किया। 'वैकम मुहम्मद बशीर', 'यु ए खादर' जैसे लेखकों ने मलयालम साहित्य में वरेण्य जाती की संस्कृति के बीच मुस्लिम संस्कृति की छाप छोड़ने में सफल हुए। किन्तु चाहे मलयालम में हो या अन्य भारतीय भाषा में यह आंचलिक भाषा केवल साहित्य में चित्रित पात्रों के बीच के वार्तालाप में लागु होता है, कृति की आगे की यात्रा उस क्लिष्ट संस्कृत निष्ठ भाषा में होती है। भाषा और संस्कृति का उपनिवेश अभी भी केरल में है। उसका उदहारण है 'ट्रेडिशन' के नाम पर होना वाला आचार व्यवहार, सामग्रियों का उपयोग, पद एवं आशयों का प्रयोग आदि।

तीसरे अध्याय 'दलितों की उत्तराधुनिकता' में दलित और साधारण किसान किस तरह मुख्यधारा साहित्य से अपरिचित थे इसकी चर्चा की गयी है। जब मनुष्य के चाँद पर कदम रखने की बात होती है तब एक साधारण किसान का

सवाल बस इतना था "क्यों धरती में उसके लिए कोई काम बचा नहीं"? अर्थात किसान केलिए मिट्टी और खेती ही सब कुछ था। क्योंकि उससे उसको एक वक्त का अन्न मिलता है, वही उसकी ज़िन्दगी की हकीकत थी। धरती में ब्राह्मण की यात्रा को जुलुस कहा गया, उसका खाना अमृत सामान माना गया और घर को महल कहा गया, दूसरी तरफ दलित के लिए झोम्पटी थी। उत्तराधुनिकतावादियों का ना मानने से भी वास्तविकता यह है कि हमारा साहित्य और भाषा दोनों काल्पनिक है, वह केवल एक भाषा की लीला मात्र है। दोस्त केलिए सतीर्थ्य का प्रयोग इसी बात का उदाहरण है, असल में शब्दकोश की मदद से पाठकों को हैरान कराने वाले लेखक इस उत्तराधुनिक युग में भी है। आधुनिक साहित्य समस्त मनुष्य वर्ग की समस्या को नहीं बल्कि व्यक्तिगत समस्या की सौन्दर्यत्मकता को व्यक्त करते है। मलयालम में 'कमला दास' ने पहली बार एक स्त्री की स्वंतंत्रता को इस तरह व्यक्त किया जो तत्कालीन सारी सवर्ण कुलीनताओं को तोड़ने वाला था। भगवान विष्णु से एक दलित की सिर्फ एक ही विनती है कि 'राणियों के गर्भ से जन्म लेने से नहीं एक साधारण हरिजन के रूप में झाड़ू लेकर चलने से आप वास्तव में 'हरी' कहलायेगा'। आधुनिकता के भाषा बोध में परिवर्तन ज़रूर हो रहा है, इसके उदाहरण के रूप में प्रदीपन पम्बिरिक्कुन्नु अपने पुस्तक में शरण कुमार लिम्बाले की रचना 'हिन्दू' की पंक्ति देते हैं - ' सदानंद काम्बले थाली में पका हुआ अज मांस लेकर आता है, उसका गंध निशागंधी के गंध सा प्रतीत हुआ।' इत्र और औषधी के गंध से परिचित सवर्णों को अपने गंध और रूचि का पटेर्ण बदलना पड रहा है।

चौथे अध्याय 'कलापरिणामों का समाजशास्त्र' में केरल के अनुष्ठान कलाओं की चर्चा की गयी है। 'तेय्यम' और 'तिरा' दलित आदिवासियों के मुख्य अनुष्ठान कला है। पेहले इसको जातीय कला कहकर केवल 'कावू' (एक मंदिर सामान जहाँ पूजा और अनुष्ठान सिर्फ दलित करते है) की सीमा में

सीमित रखा गया। आज वह मुख्यधारा कलारूपों के साथ संसार के सामने केरल का प्रतिनिधित्व करता है। तेय्यम तिरा के कलाकार एक प्रत्येक जाति के होते है। इस कलारूप का स्मब्ध सीधे खेती से है, इसका मतलब यह हुआ कि यह ऋतू से भी समबन्ध रखता है। यानि एक प्रत्येक सीज़न के बाद ये कलाकार बेरोज़गार बनते हैं। इन कलारूपों के बाज़रीकरण का एक कारण भी यही था। किन्तु दुःख की बात यह है कि इन कलारूपों के कालांश को नज़रंदाज़ किया जा रहा है। इसमें भी वही शास्त्रीय संगीत एवं ताल का प्रयोग होता है। किन्तु करने वाले लोग दलित है इसलिए इसको केवल अनुष्ठान कला का रूप देकर हाशिये में रखा गया। संगीत, ताल, नृत्य तथा चित्र कला का सबसे अधिक संगम तेय्यम में होता है, इसलिए ही इसको सबसे अधिक लोकप्रिय भी होना चाहिए था। किन्तु हमेशा इन कलाओं की 'जाति' समाज को खटकी। लेखक इस बात पर चिंतित है कि समाज सवर्ण मुख्यधारा कलाओं के पीछे भागते है किन्तु लोग तेय्यम तिरा को अपने ह्रदय के साथ जोड़ नहीं पा रहे हैं।

पांचवें अध्याय 'इतिहास हमसे क्या कह रहे थे' में लेखक यह कहने का प्रयास कर रहे है कि किस तरह केरल में साहित्य का सौन्दर्य बोध आबादी के केवल 8 प्रतिशत वाले सवर्णों का बन रहा है। संस्कृत/प्राकृत, पंडित/मूर्ख, क्लासिक/फोल्क आदि अवधारणायें इसी हाशेयेकरण का नतीजा है। साहित्य को कभी एक मानदंड में हम परिभाषित नहीं कर सकते। काल और समय और सन्दर्भ के अनुसार उसका अर्थ और व्याख्या बदलते रहते है। इसका उत्तम उदहारण है भगवत गीता, आज भी यह रचना प्रासंगिक है। पाठक एक रचना को लेखक के निर्णयों के सीमा से बाहर ला सकता है, क्योंकि साहित्य इतिहास रचना को नहीं रचनाकार को काल को मानदंड बनाता है। इतिहास में जाति भी कहीं न कहीं मायने रखता है। इसलिए ही साहित्य के इतिहासकार में हमेशा रचनाकार की जाति पर नज़र डालने में उत्सुकता दिखाई दी। लेखक का सवाल यह है कि जाति क्यों इतिहासकारों को इतना महत्वपूर्ण लगा होगा?

छठे अध्याय 'दलित संस्कृति और सार्वभौमिक समाज' में लेखक पूछते है जब दुनिया भूमंडलीकरण और विकास की ओर जा रही थी किन्तु तब भी दलित केवल दलित बनकर क्यों रह गया? आगे वे कहते है दलितों के ऊपर मूलधन या बाज़ार का भूमंडलीकरण नहीं बल्कि संस्कृति का हुआ है। पहले से ही उनके मन में ऐसी सोच उत्पन्न कर दी गयी थी कि उनकी ज़िन्दगी अपरिष्कृत है उनका व्यवहार अपवित्र एवं पाप है, यह सवर्ण मुख्यधारा संस्कृति के चढ़ाव का कारण हुआ है। उनकी कला फोल्क एवं अशास्त्रीय माना गया, उनका साहित्य बिना मानक का मौखिक साहित्य माना गया। बाज़ार के लिए सौन्दर्य का मानदंड केवल सवर्ण संस्कृति है। लेखक एक महत्वपूर्ण सवाल उठाते है कि इनके सवर्ण दलित संस्कृतियों की सीमा रेखा क्या थी? जातिवाद होने पर भी इनके बीच काम काज व्यवस्था का सम्बन्ध था। खेती के क्षेत्र की तरह दलित उत्पादक क्षेत्र में भी स्वयं को साबित नहीं कर पायें। गैर सरकारी क्षेत्रों में दलित सफलतापूर्वक प्रवेश नहीं कर पाए। सभी इस सत्य को भूल जाते है कि धरती किसी का अपना नहीं है।

सातवां अध्याय 'सौंदर्यशास्त्र के वर्णाश्रम' का आरम्भ ज्ञान का सिद्धांत किस तरह भारतीय दर्शन का केंद्र बनता है, इसकी चर्चा से होता है। जैसे कि नाम से अध्याय का एक संग्रहित रूप भी स्पष्ट होता है। जिस बात को बार बार इस पुस्तक के द्वारा जोर देकर कहने की कोशिश लेखक करते है उन अवधारणाओं का एक संग्रह रूप है यह सातवाँ अध्याय। जिस तरह केरल के लोक संस्कृति पर सवर्ण संस्कृति का उपनिवेश आया है, जिस तरह वह ज्ञान को रूपायित करता है, लोगों को किस तरह प्रभावित करता है आदि की चर्चा हुई है।

आठवां अध्याय 'प्रतिमाओं की बातचीत' का आरम्भ लेखक एक सवाल से करते है 'गांधीजी कौन है'। लेखक कहते है कि आज की पीढ़ी केलिए गांधीजी केवल तस्वीर में दिखाई देने वाला एक वृद्ध है। गांधीजी, श्रीनारायण गुरु, फूले

जैसे महान व्यक्तित्व आज केवल एक शिल्प या चित्र के रूप में सीमित हो गए हैं। इसका कारण क्या है? कारण यह है कि नयी पीढ़ी इतिहास से ठीक तरह से परिचित नहीं है परिचित करवाने वाले भी नहीं है। स्वतंत्रता के बाद जनता को लगा जो भी आदर्श था उसकी अब आवश्यकता नहीं होगी, राष्ट्रीय बोध की यह निश्चल अवस्था के कारण कांग्रेस पार्टी स्वयं गांधीजी को भूल गए। इसलिए गलती बच्चों की नहीं है हमारी राष्ट्रीय अवधारणाओं की है। उसी तरह केरल में जाति व्यवस्था के विरुद्ध गुरु का जो योगदान था वह आज केवल उनके कुछ सीमेंट से शिल्प में सीमित रह गया है। पहले बुद्ध के साथ भी यही हुआ था, बुद्ध केवल मूर्ती बन गयी फिर उनको विष्णु का अवतार माना गया, जिन्होंने हिंदुत्व का विरोध करने का प्रयास किया था बाद में वह हन्दू ही रह गया। लेखक यह भी जोड़ देते है इस तरह महतव्यक्तियों की उपेक्षा भविष्य के लिए खतरनाक सिद्ध हो सकता है।

नवां अध्याय है 'कला एवं आदिवासी'। इस अध्याय में लेखक यह कहने का प्रयास किया है कि किस तरह कला जातीय बन गयी और बाज़ार का प्रभाव कला पर किस तरह पड़ा है। असल में बाज़ार का प्रभाव सारी कलाओं में पड़ा है किन्तु अधिक रूप से दलित एवं आदिवासी कला और संस्कृति पर पड़ा है। कला का परिवर्तन मनुष्य और काल के विकास के साथ साथ हुआ है खासकर गोत्र कला में, क्योंकि इनकी कलाएँ इनकी जीवन से सीधा सम्बन्ध रखता है। प्रकृति से भी वह जुडी हैं उनको प्रकृति से अलग करना असंभव है, ताल संगीत से लेकर चित्र कला के रंग तक प्रकृति का ही देन था। किन्तु कहीं न कहीं ज़िन्दगी जैसे ही विकास की ओर बढ़ने लगी, प्रकृति और उससे जुडी ये आदिवासी कलाएँ भी उनसे दूर जाने लगे। मुख्यधारा में उनका आचार एवं कला विचित्र रूप से चित्रित होने लगे। अध्याय के अंत में लेखक कहते है देश का निर्माण दरिद्र के सपनों से होना चाहिए।

दसवां अध्याय 'भाषा और उपनिवेश' में लेखक भाषा की अवधारणा के बारे में कहते है। उनकी राय में 'शुद्ध' भाषा की अवधारणा एक संकल्प मात्र है। भाषा और संस्कृति का हमेशा एक संकर या मिश्रण स्वाभाव होता है। इसी तरह साहित्य का भी विकास हुआ है। मलयालम भाषा में दो तरह का मिश्रण हुआ है सांस्कृतिक और राष्ट्रीय, सांस्कृतिक रूप से संस्कृत का प्रभाव और राष्ट्रीय रूप से 'सेंतमिल' (पुरानी तमिल) का प्रभाव। एक भाषा में दूसरी अन्य भाषा के प्रभाव के कारण का प्रमाण उपलब्ध है उसका उदहारण है व्याकरण ग्रन्थ और शब्द कोष आदि। लेखक Globalisation और Localisation से भाषा का सम्बन्ध भी स्पष्ट करते है। 'Glocalisation' शब्द भाषा का सार्वभौमिक रूप भी है तथा क्षेत्रीय रूप भी।

ग्यारहवां अध्याय 'नवजागरण जब दलित लिखते है' में नवजागरण और दलित का सम्बन्ध की चर्चा की गयी है। लेखक की राय में भारत का नवजागरण भी पश्चिमीकरण की प्रक्रिया थी। इसका मतलब पाश्चात्य उपनिवेश नहीं है, उपनिनिवेश सत्ता और अधिकार की प्रक्रिया है और भारत में पश्चिमीकरण अनुकरण की प्रक्रिया है। लेकिन नवजागरण में जागरण सही अर्थ में उन्नत कुल की सवर्ण जनता में हुआ था। नवजागरण के कार्यकर्ता भी विशेषकर तथाकथित सवर्ण ही थे। इस नवजागरण से मुख्यरूप से परिवर्तन शिक्षा के क्षेत्र में हुआ, अंग्रेजी शिक्षा को महत्वपूर्ण मानने लगा। कुछ लोग गाँव छोड़कर शहर में बसने लगे, इस तरह कुछ गावों का लोप भी हुआ है इसके साथ साथ कई आन्दोलनों का भी उदय हुआ है। इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि नवजागरण का आरंभिक स्पंदन शिक्षित भारतीयों में ही दिखाई दिया था। रजा राम मोहन राय, अम्बेडकर गाँधी जी आदि भी इसी पाश्चात्य श्रेणी का हिस्सा थे, लेकिन फूले की विचारधारा इनसे अलग थी। साहित्य में भी यह परिवर्तन दिखाई देनें लगा। मलयालम साहित्य में 'इन्दुलेखा' (उपन्यास) इसका उदाहरण है। लेखक कबीर का भी उल्लेख करते हैं, कबीर कहते है 'तीर्थाटन

स्थलों पर मैं गया था, स्नान भी किया किन्तु मैं केवल वहां भी पानी ही देखा और कुछ विशेष नहीं।' आखिर में लेखक का अभिप्राय है देश में नवजागरण तो हुआ है किन्तु केवल हिंदुत्व सवर्ण देशीयता के मानदंड पर।

बारहवां अध्याय 'धरती के अधिकारी' का आरंभ लेखक मनुस्मृति की पंक्ति का याद दिलाते हुए करते है "जो पहले वृक्ष को काटता है, वह भूमि उसका अपना बन जाता है"। वास्तव में यह किस तरह का उपनिवेश है? मुख्यधारा समाज और प्रकृति के बीच का व्यापारिक सम्बन्ध से आदिवासी जनता हैरान है। मनुष्य अपने लाभ के लिए वायु और जल का क्रय विक्रय करते है। इससे जल का चमक और मिट्टी की निर्मलता नष्ट हो गया है। इन तथाकथित परिष्कृत लोगों के बीच ये दलित शोषित वर्ग अभी भी प्रकृति को बचाने का प्रयास करते रहते हैं। नम्बूतिरी (ब्राह्मण) और नायर श्रृंगारिक काव्यों के रस में लीन थे। उनको ध्यान नहीं था कि जिस ज़मीन को वह अपना कह रहे हैं वहां श्रम करने वाल पसीना बहाने वाला यही दलित है। किन्तु श्रम करने वालों का अपना कोई ज़मीन नहीं है, ना कि श्रम का कोई मूल्य। वे केवल किसान थे ना कि ज़मीन के मालिक। सवर्ण कभी श्रम के बारें में मन में भी नहीं सोचा होगा। इनके लिए श्रम का पर्याय ही दलित था। इसलिए ही केरल का इतिहास कभी कृषि से सम्बन्ध नहीं रखा। सबसे महत्वपूर्ण बात यह कि भारत में सामाजिक जीवन और व्यवस्था का आधार जाति व्यवस्था है। यह सिर्फ इतिहास की बात नहीं है साहित्य में भी श्रमिक का सौन्दर्य वर्णित नहीं किया गया।

तेरहवां अध्याय 'केरल में जाति एक बयान' में लेखक कहते हैं भारतीय समाजिक जीवन का आधार वैयक्तिक मोक्ष था। आगे वे कहते है कहीं न कहीं लोकतान्त्रिक व्यवस्था का भी आधार यही वैयक्तिकता है क्योंकि यहाँ भी हम अपना व्यक्तिगत राय चुनाव के द्वारा व्यक्त करते है। धार्मिक बोध एक एककालिक रूप नहीं है यह बहुकालिक संकल्पों का संग्रह है। हिन्दू धर्म को

जाति से मुक्त कराना मुमकिन नहीं है। आरक्षण की व्यवस्था होते हुए भी सवाल यह उठता है समाज में आरक्षण किस हद तक लागू हो रहा है। महंतर, स्वीपर आदि पद पर काम करने केलिए आज भी दलित के अलावा कोई तैयार नहीं होता है। हर दलित महन्तर नहीं है किन्तु हर महंतर दलित है। आज धर्म जाती आदि 'ऐडेंटिकल पॉलिटिक्स' का उदाहरण मात्र है। लोकतंत्र में जाति की बात किस तरह होनी चाहिए इस पर कोई चर्चा नहीं होती है।

चौदहवां और आखरी अध्याय 'व्यक्ति, स्वत्व, कर्तृत्व-एक दलित चिंतन' में व्यक्ति या 'Individual' का अर्थ बताते हुए लेखक आरंभ करते है। लेखक कहते है मध्यकाल के अंतिम समय से ही व्यक्ति शब्द का वर्त्तमान रूप उभर आया है। किन्तु भारत में व्यक्तिबोध भी वर्ण और जाति के आशयों से बंधित था। मनुष्य के पहचान का बोध एक ऐसी चीज़ है जो हमेशा निर्मित होता रहता और कभी पूर्ण नहीं होता। व्यक्ति के साथ साथ मनुष्य होने का बोध भी लोगों में होने लगा। 'दलितत्व' से तात्पर्य है कि दलितों को उनकी आन्तरिकता से प्रेरणा देना।

'दलित सौन्दर्यशास्त्रम' नामक निबंध संग्रह में केरल के दलित आदिवासियों के व्यवहारिक, सामाजिक एवं आर्थिक जीवन के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डालने का प्रयास लेखक ने किया है। नए परिप्रेक्ष्य में लिखा गया इस ग्रन्थ का अन्य भाषा में रूपांतरित होना साहित्य के क्षेत्र के लिए अनिवार्य भी है।

अनुवाद की आवश्यकता

अनुवाद का अर्थ है पुनःकथन। शब्दार्थ चिंतामणि कोश में अनुवाद का अर्थ 'प्राप्तस्यपुनः कथने' या ज्ञातार्थास्य प्रतिपदाने' अर्थात पहले कहे गए अर्थ को फिर से कहना। एक ही भाषा की किसी सामग्री का किसी दूसरी भाषा में रूपांतर करना ही अनुवाद है। अर्थात स्रोत भाषा से लक्ष्य भाषा में व्यक्त करना।

वास्तव में अनुवाद की भूमिका हमारी ज़िन्दगी में बहुत महत्वपूर्ण है, जाने अनजाने में हम सब अनुवाद कार्य पर आश्रित है। अनुवाद मनुष्य की सहज वृत्ति है। अनुवाद के इतिहास पर नज़र डालना इसके साथ बहुत ज़रूरी है। ड्राईडन ने अपने अनुवाद कार्य को 'Disease of translation' अथवा 'अनुवाद का रोग' कहा है। एक अनुवादक को अन्य भाषा में अनुवाद करने से पहले अपनी मातृभाषा में अच्छे आलोचक एवं समीक्षक बनना बहुत ज़रूरी है। क्योंकि हमारे मस्तिष्क में अपनी मातृभाषा में ही चिंतन मनन की प्रक्रिया होती है। अनुवाद का आरंभ मनुष्य के विकास के साथ साथ हुआ है, अर्थात हमारी संस्कृति के निर्माण और विकास में इसकी भूमिका सबसे महत्वपूर्ण है। ह्यूगो फ्रेडरिच के लेख "ओन द आर्ट ऑफ़ ट्रांसलेशन" में उन्होंने आपने रोमानी संस्कृति और अनुवाद के अटूट सम्बन्ध का उल्लेख किया है। रोमानियों के लिए केवल एक साहित्यिक वृत्ति नहीं थी, यूनानी संस्कृति के साहित्यिक और दार्शनिक तत्वों को अपनी संस्कृति में लाकार उसके सौंदर्य और प्रौढ़ता को बढ़ाना ही उनका मुख्य उद्देश्य था। अपने अनुवाद को मूल पाठ से अधिक बेहतर बनाने का पूर्ण अधिकार और स्वतंत्रता अनुवादक को है। नवजागरण के दौर में अनुवाद का नया रूप सामने आ गया, उसकी नयी संभावनाओं के प्रति लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ। जहाँ अनुवाद को केवल मूल पाठ का नाश करने वाली प्रवृत्ति मानी गयी थी, उस जगह भाषा वैज्ञानिक दृष्टि में भी

अनुवाद के ज़रिये भाषा और साहित्य की नयी संभावनाएँ उभर आने लगी। यानि भाषाई सौन्दर्य का विकास होने लगा। अठारहवीं शती के मध्य में आते आते लेखक तथा पाठक अनुवाद और अन्य भाषाआँ को उतना ही महत्वपूर्ण मानने लगे जितना अपनी भाषा को मानते हैं। समय के साथ साथ विधाओं के अनुवाद में भी परिवर्तन आने लगा। मूल भाषा और लक्ष्य भाषा में एक ही अर्थ का सामान रूप से अर्थ मिलना हमेशा संभव नहीं होता है। अर्थ और शब्द की समानता की समस्या कविता के संदर्भ में और भी जटिल होगा। अर्थेर स्चोपेन्हौएर कहते है "Poems cannot be translated, they can only be rewritten, which is always quite an ambiguous undertaking"[1] अर्थात कविताओं का अनुवाद नहीं होता है बल्कि पुनर्लेखन होता है। उन्नीसवीं शती से बीसवीं शती के आरम्भ तक चली आई एक प्रथा थी, एक अनुवादक का कर्तव्य है मूल भाषा के पाठ की समग्रता को से लक्ष्य भाषा में लाना। उसी संदर्भ में नबोकोव जैसे विद्वानों ने केवल शाब्दिक अनुवाद को ही प्रमाणिक माना।

जेकबसण के अभिप्राय में भाषा स्वयं जानती है कि लोगों में क्या बात पहुंचनी चाहिए, और उसके अनुसार भाषा और प्रयोग में परिवर्तन भी होता है। अनुवाद पर ओक्टावियो पाज़ अपनी राय अलग तरह से प्रस्तुत करते है "जब हम बात करना शुरू करते है तब से अनुवाद भी हम सीखते है ; एक बच्चा अपनी माँ से शब्द का अर्थ पूछता है, तब माँ उसी भाषा में सरल शब्दों जिससे बच्चा परिचित है, में उसका अर्थ बताती है।"[2] यानि यहाँ एक ही भाषा के अन्दर अनुवाद का कार्य हो रहा है, और अलग भाषा में या एक ही भाषा के अन्दर अनुवाद होने में इतना भी अंतर नहीं है। आगे वे कहते हैं "भाषा स्वयं एक अनुवाद की प्रक्रिया है अर्थात गैर मौखिक या अवाचिक से वाचिक में परिवर्तन।" पाज़ भाषा को अनुवाद के एक माध्यम की तरह देखते है, यानि

---

[1] थीयरिस ऑफ़ ट्रांसलेशन, एडिटेड बाय रेनर शुल्ट एंड जॉन बिगनेट . पृ.सं.4
[2] पृ.सं.7

अवचिक शब्दों का वाचिक में अनुवाद। अनुवाद के ज़रिए व्यक्ति अपनी भाषा की भी गहराई से अध्यन करता है तथा उसमें निष्णात बनता है। क्योंकि अन्य भाषा के शब्द अर्थ तथा रूपक आदि का एक अनुवादक समानार्थी शब्द मूल भाषा यानि अपनी भाषा में ढूँढता है। इससे वह भाषा की गहराई में जाता भी है और अपनी भाषा के विकास में योगदान भी देता है। क्योंकि अनुवाद किसी भाषा के विकास का एक अटूट हिस्सा है।

ह्यूगो फ्रेडरिच के लेख 'On the Art of Translation' में उन्होंने मूल भाषा की सूक्ष्मता और अनुवादक की मांग एवं उत्तरदायित्व अनुवाद को किस तरह प्रभावित करता है इस पर प्रकाश डाला है। वास्तव में अनुवाद की इस कला में अनुवादक की ज़िम्मेदारी बहुत बड़ी है। एक अनुवादक को मूल भाषा के साहित्यिक एवं भाषाई सौन्दर्य को बनाये रखना पड़ता है इसलिए अनुवादक भाषा की परिधि में निरंतर नियंत्रित हो जाता है। यूरोप में साहित्यिक अनुवाद का आरंभ रोमन से हुआ है। रोमन ने यूनान से अनुवाद की प्रतिभा हासिल की। बाद में रोमन केलिए अनुवाद से तात्पर्य यह हुआ कि अन्य भाषा के भाषा विज्ञान को अपनी भाषा में अपनी संस्कृति के अनुसार निर्मित करना। अनुवाद की एक नयी अवधारणा फिर सामने आती है 'Act of "Carrying over" यानि 'स्थानांतरित करने की प्रक्रिया', दो साहित्यों की दो संस्कृतियों की अंतःक्रिया या पारस्परिक क्रिया। नीत्शे ने अनुवाद को रूपन्तरण की प्रक्रिया माना। कहीं किसी रचना का पूर्ण अनुवाद नहीं हो सकता, निकटता ढूँढा जा सकता है। भाषाओं की संरचना तथा वैज्ञानिक पक्ष भले ही अलग हो किन्तु उनके आतंरिक संरचना में आत्मीय सम्बन्ध रहता है। अनुवाद का और अनुवादक का अगली ज़िम्मेदारी होती है भाषा का प्रयोग। बोलचाल की भाषा का प्रयोग अधिक न करके प्रयोग में ताजगी और नयापन लाना इनका उत्तरदायित्व बना, जैसे मूल पाठ में मूल लेखक करते है। इससे भाषा की नयी संभावनाएँ तथा प्रयोग रीति

आदि उभर आती हैं। मूल कृति की अतिशयोक्ति प्रयोग एवं अवास्तविक चीज़ों का भी नज़रंदाज़ अनुवादक को नहीं करना चाहिए।

ड्राईडन अपने लेख 'On Traslation' में अनुवाद के तीन तरीकों का एक झलक आरंभ में देते है। पहला है शाब्दिक अनुवाद, दूसरा वर्णनात्मक अनुवाद इसमें अनुवादक लेखक को भी ध्यान में रखता है। तीसरा है अनुकरण करना। होरेस का इस के सम्बन्ध में कहना है "Nor word for word too faithfully translate"[3] अर्थात सारे शाब्दिक अनुवाद विश्वसनीय एवं सही नहीं होते। इस लेख में उन्होंने कविता के अनुवाद पर जोर दिया है। अनुवादक का काम लेखक और कृति को आकर्षक बनाना भी होता है। एक अनुवादक को अनुवाद करने से पहले अपनी मातृभाषा में निष्णात तथा अच्छे समीक्षक होना चाहिए। जिस तरह मातृभाषा में उसकी दक्षता है उसी तरह अनुवाद करने वाली भाषा में भी होनी चाहिए। एक नयी भाषा सीखने से तात्पर्य केवल उसके शब्द पद आदि सीखने में नहीं बल्कि भाषा की शैली मुहावरे आदि सीखने मैं भी है, इससे एक अनुवादक का भाषा भंडार और भर जाता है, साथ साथ अपनी भाषा का ज्ञान और अर्जित करने में वह प्रेरित हो जाता है।

शब्द मानवराशी के सबसे महत्वपूर्ण एवं अनश्वर सृष्टि है। किसी एक भाषा के एक शब्द का सामान शब्द दूसरी भाषा में मिलना मुश्किल है, इसलिए यह अनुवादक के लिए समस्या बन जाती है। उस समय अनुवादक शब्द के अर्थ और भाव का ग्रहण करके लक्ष्य भाषा में उसके भाव का सम्प्रेषण करता है। शब्दकोश में शब्द का पूर्ण भाव नहीं मिलता, वह एक तरह से अर्थ की ओर इशारा करता है, संदर्भ के साथ उसका प्रयोग करने की ज़िम्मेदारी लेखक के ऊपर निर्भर है। लेकिन सबसे बड़ी समस्या सांस्कृतिक अंतर है। स्रोत भाषा के पात्र की रीति, बात करने की शैली, आदि उसके संसृति पर निर्भर रहेगा, उसका

---

[3] थीयरिस ऑफ़ ट्रांसलेशन, एडिटेड बाय रेनर शुल्ट एंड जॉन बिगनेट . पृ.सं.17

कोरा अनुवाद करना नक़ल करने के बराबर है तब अनुवादक केवल उपकरण मात्र बन जाता है, उसकी सृजनात्मता मर जाती है।

अनुवाद में साहित्यिक अनुवाद का महत्व क्या है या वह इतना लोकप्रिय क्यों है ? साहित्यिक अनुवाद किसी की अभिव्यक्ति का सम्प्रेषण करता है। इसलिए ही एक अनुवादक अनुवाद करते समय उस कृति का सौदर्य का अनुभव कर पाता है साथ साथ संतोष का भी। लेकिन समस्या यह उठती है कि अनुवादक स्रोत भाषा के स्वर का अनुवाद नहीं कर पाता है, जैसे कि बोली, कुछ घरेलु नाम, कहावतें, सांस्कृतिक सम्बन्धी चीज़ें आदि का अनुवाद करना मुश्किल है। कुछ अनुवादक ऐसे भी है जो अपनी प्रतिष्ठा केलिए अनुवाद करते है, वे केवल कृति का नाम लेखक और उसकेलिए मिला हुआ पुरस्कार पर ध्यान देते है। अनुवादक को निर्णय लेना है कि वह किसलिए अनुवाद कर रहा है, पैसे केलिए या नाम के लिए या फिर साहित्य में अपना योगदान के रूप में।

अनुवाद के क्षेत्र में प्रतियोगिता एक मुख्य घटक है। अगर आप पश्चमी भाषा में और दो तीन देशी भाषा में दक्ष हो तो आप के लिए अनुवाद के क्षेत्र में बने रहना आसान होगा। किन्तु अमेरिका में ढेर सारे अनुवादक है जो स्पेनिश जानते है और अनुवाद भी करते है, इसलिए उनके लिए अनुवाद के क्षेत्र में रहना कठिन ज़रूर है। एक कृति का अनुवाद करते समय जो भी संवेदना का चित्रण स्रोत भाषा में हुआ हो उसका उसी संवेदना के साथ लक्ष्य भाषा में पुनः अविष्कार करना अनुवादक की ज़िम्मेदारी है।

वास्तव में अनुवाद हमारी ज़िन्दगी इतना महत्वपूर्ण है जैसे कि हमारा बुनियादी आवश्यकता है। एक मनुष्य जैसे भाषा सीखना शुरू करता है, उसकी बुद्धि का विकास होता है तब से उसके मस्तिष्क में अनुवाद की प्रक्रिया चलती है। एक पुस्तक को अनुवाद करने से पहले अनुवादक के मन में कई सारी प्रेरणाएँ होती है, कई सवाल उठते हैं। वह किस लिए अनुवाद कर रहा है,

पुस्तक में चित्रित मुख्य समस्या क्या है, मुद्दा क्या है, कृति का अनुवाद लक्ष्य भाषा में कितना लाभदायक हो सकता है, उसका कितना योगदान हो सकता है आदि। भाषा का सम्बन्ध उसकी संस्कृति का सम्बन्ध आदि अनुवाद में बहुत प्रभाव डालते है। एक भारतीय साहित्य का पश्चिमी भाषा में अनुवाद में जितनी कठिनाईयां होती है उससे कम समस्या दो भारतीय भाषाओं के बीच होता है। अनुवाद में सबसे बड़ी समस्या सांस्कृतिक होता है। किन्तु एक अनुवादक उस समस्या को लांधकर स्रोत भाषा और कृति के साथ ईमानदारी करने की कोशिश करता है। एक लेखक का जिस तरह अपनी सृजनात्मकता की अभिव्यक्ति करते हैं, ठीक उसी तरह एक अनुवादक से भी यह उम्मीद है की वह भी अपनी सृजनात्मकता का उपयोग करें। वास्तव में एक अनुवादक की ज़िम्मेदारी मुख्य लेखक से अधिक है। एन.ई विश्वनाथन अय्यर जी की राय है "आज हम अनुवाद के युग में जी रहे है।" क्योंकि दुनिया की सारी भाषाएँ परस्पर अनुवाद करती रहती है। भारतीय साहित्य तथा अनुवाद काफी पुराना सम्बन्ध है। लौकिक संस्कृत में अनेक प्रकार के अनुवाद होता था। अनुवाद से तात्पर्य सिर्फ स्रोत भाषा से लक्ष्य भाषा में हूबहू चीज़ों को उतरना नहीं होता है, एक भाषा के कथ्य को दूसरे रूप में प्रस्तुत करना भी अनुवाद है। संस्कृत नाटकों में दो पात्रों के बीच में अनुवाद का कार्य होता है, क्योंकि उसमें एक पात्र संस्कृत और दूसरे स्त्री पात्र प्राकृत में बात करते है। उस जगह एक तरह से अनुवाद का ही कार्य हो रहा है।

दलित शब्द का सामान्य अर्थ 'दलन' है। दलित वह है जिसका दलन हुआ हो, यानि दमन हुआ हो। दलित अवधारणा की ओर ज़रा ध्यान देते है। दलित से तात्पर्य केवल पिछाड़ी जाति या वर्ग से नहीं, समाज में जिसका भी दमन या शोषण होता है उसको दलित कहा जाता है। अर्थात दलित के अंतर्गत वे सारे लोग आते हैं, जिसका शारीरिक, आर्थिक, मानसिक रूप से किसी शक्तिशाली वर्ग द्वारा शोषण होता है। हिंदी और मराठी साहित्य में पहले से ही दलित

साहित्य के सौंदर्यशास्त्र संबंधी अवधारणाओं का परिचय हुआ था। दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र की राचना पहले मराठी में शरण कुमार लिम्बाले (बाद में उसका हिंदी में अनूवाद हुआ था) तथा हिंदी ओं प्रकाश वाल्मीकि ने भी की।

2011 में मलयालम में प्रदीपन पम्बिरिक्कुन्नु द्वारा मलयालम में दलित सौन्दर्य शास्त्र की रचना होती है। इस पुस्तक का अनुवाद की आवश्यकता क्या है ? यह एक महत्वपूर्ण सवाल है। दलित एवं शोषित वर्गों की उन्नति के लिए मार्क्सवाद का उदय पहले ही भारत में भी हुआ था, किन्तु यह भी सवाल है मार्क्सवाद का होते हुए भी दलितों की समस्या उनसे किस तरह अलग होती है। दलित आर्थिक रूप से भी शोषित ज़रूर थे किन्तु इस शोषण के कुछ अन्य पहलु भी हैं। इसी सन्दर्भ में 'दलित' साहित्य का एक अन्य शाखा के रूप में उदय होता है। मार्क्सवाद केवल आर्थिक शोषण और समाज की अर्थिक असमानता के खिलाफ आवाज़ उठाता है। दलितों की समस्या केवल आर्थिक नहीं थी, वे लोग वर्ण, वर्ग, अर्थ, जाति, रंग आदि के नाम पर समाज में शोषित हो रहे थे। इनकी समस्याओं को आवाज़ देने के लिए दलित साहित्य का उदय होता है। समाज और समज में जिंदे साधारण श्रमिक व्यक्ति पहले से ही साहित्य का विषय नहीं था। इसी संधर्भ में 'दलित साहित्य एवं उसका सौन्दर्यशास्त्र' की एक नयी अवधारणा उभर आती है। इन उपेक्षित वर्गों पर समाज का ध्यान लाना आवश्यक था। इस विषय प्रासंगिकता तब तक रहेगी जब तक दलितों का शोषण होता रहेगा। अन्य भाषा की किताबों की तुलना में मलयालम में रचित 'दलित सौन्दर्यशास्त्रम' की विशेषता यह है कि इस पुस्तक में केवल साहित्य के सौंदर्यशास्त्र ही नहीं बल्कि दलित एवं आदिवासी जनता के कला के सौंदर्य शास्त्र की भी चर्चा की है।

भारतीय सौन्दर्यवधारणा को संस्कृत के नाट्य शास्त्र, अलंकारशास्त्र, काव्यशास्त्र अदि से जोड़ा गया है। *'एषुतच्चन'* भी जिनको आधुनिक मलयालम के पिता मानते ही, और जिन्होंने मलयालम में '*अध्यात्मिक रामायण'* की रचना

की है, स्वयं दलित होकर भी इसलिए ही साहित्य के ब्राह्मणवाद में फंस गए, यह बात उनकी रचनाओं में साफ़ दिखायी देती है।

साहित्य की ऐसी प्रथा के चलते चलते क्षेत्र, ग्राम उसकी विशेषता, साधारण व्यक्ति की ज़िन्दगी आदि से साहित्यकर कोसों दूर हो गए हैं। भारत को आत्मीयता के साथ जोड़ा गया, इसी पृष्ठभूमि पर कर्मभूमि, पुण्यभूमि, भारत क्षेत्र आदि अवधारणाएँ सामने आई, यानि अतियथार्थ का एक तरह से आत्मीय रूप। सौन्दर्य का आधर केवल आनंद को ही माना गया और जो आनंद अलौकिक था, ब्रह्मानंद था, जो साधारण व्यक्ति के समझ में नहीं आती है।

व्यवहारिक जीवन, सामाजिकता आदि विषय मुख्यधारा साहित्य से बहुत दूर थे, क्योंकि शूद्र और अतिशूद्र जिनको कहा गया है उनकी सृजनात्मकता या क्रिएटिविटी की बिल्कुल उपेक्षा की गयी। लिखित साहित्य का प्रभुत्व व अधिकार मौखिक साहित्य का तिरस्कार आदि इसका प्रमाण है। जिस जनता को विद्या से वंचित रखा गया वे किस तरह अक्षरों के द्वारा अपनी अभिव्यक्ति का प्रदर्शन करेंगी?

इसी संघर्ष से एक नयी अवधारणा का जन्म होता है। जहाँ केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय नायक होता है वहां एक साधारण आदमी में नायक का गुण क्यों नहीं हो सकता? उनकी कला को साहित्य को अशास्त्रीय या फोक क्यों कहा जाता है? जहाँ तक मेरी जानकारी है सो कॉल्ड सवर्ण शास्त्रीय कलाओं का मूल तो मूल वासियों से अरंभ होता है। हाँ उनकी भाषा प्रयोग में थोडा अंतर हो सकता है, किन्तु उसका मतलब यह नहीं है कि वह अशास्त्रीय या प्राकृत है उसमें ताल नहीं है, उसमें सौन्दर्य नहीं है।

दलित साहित्य एवं कला संघर्ष एवं वास्तविकता से ओतप्रोत ज़रूर है, किन्तु इससे तात्पर्य यह नहीं कि उसमें कलांश या कला मूल्यों का बिलकुल तिरस्कार किया गया है। मलयालम में दरअसल दलित साहित्य की विधा होने

से पहले भी मजदूरों और किसानों की समस्या व संघर्ष की चर्चा ज़रूर हुई थी, ऐसा नहीं है कि मलयालम साहित्य साधारण जनता से वाकिफ़ नहीं थे। किन्तु उसको मार्क्सवादी विचारधारा के आधार पर देखा जाता था। मजदूर, किसान, दलित आदि के चरित्र ही केरल में मार्क्सवाद का आधार है, किन्तु इनकी समस्या केवल आर्थिक नहीं थी, एक विभाग पूंजीवाद से पीड़ित है दूसरा वर्णव्यवस्था से। इसलिए ही दलित साहित्य अम्बेडकरवादी दर्शन से प्रभावित है।

जीवन के यथार्थ से ही दलित सौन्दर्य अवधरणा सामने आती है। कुछ आलोचक ऐसे भी हुए है कि जिनको 'दलित साहित्य में सिर्फ चिढ और क्रोध दिखाई देता है। शायद उनकेलिए सौन्दर्य केवल fantasy या मनोरंजन होगा। किन्तु सौन्दर्य का सम्बन्ध संघर्ष और वेदना से भी हो सकता है। जिस काव्य या कला सृष्टि के साथ हमारी अनुभूति जुड़ जाती है वही विलक्षण है।

'दलित' केवल जाति स्वत्व में सीमित तत्व नहीं है बल्कि वह जाति विरोध से उत्पन्न स्वयं के स्वत्व का अन्वेषण है। धरती प्रकृति और व्यावहारिक जीवन को अलौकिक ब्राहमणवाद से बाहर लाकर सामाजिक नीति पर आधारित एक व्यवस्था का निर्माण दलित आन्दोलन का मुख्य लक्ष्य है।

दलित साहित्य सांस्कृतिक मान्यताओं का विरोध नहीं करता है। यह सिर्फ सवर्ण संस्कृति की स्वीकृति और श्रमिकों के सौंदर्यबोध की उपेक्षा का विरोध करता है, यह बात ओम प्रकाश वाल्मीकि जी भी कहते है। किन्तु बाजारीकरण के दौर में दलित और उनकी कला कहीं न कहीं पराजित हो गए। क्योंकि उनके पास सांस्कृतिक मूलधन (cultural capital) के अलावा कुछ नहीं था।

जब मलयालम साहित्य की बात आती है, 'कन्नाशन' 'चेरुस्सेरी' 'पून्तानम' मेल्पत्तूर आदि इसी भक्ति एवं आत्मीय प्रथा के अनुयायी है, ये जानते भी थे कि किस तरह अक्षरों से और शब्दों से खेला जाये। मलयालम का पहला विलक्षण उपन्यास 'इन्दुलेखा' में आत्मीयता भले ही नहीं हो किन्तु सवर्ण

परंपरा ही उपन्यास की आत्मा बन गयी। उससे पहले 'कुंचन नम्बियार' ने पहली बार 'ओटन तुल्लल' नामक नृत्य रूप और उसके साहित्य के ज़रिये व्यंग्य का नया रूप दिखाई देता है, उस वरेण्य वर्ग का उन्होंने मजाक बनाया। एक तरह से वह मलयालम साहित्य में एक आन्दोलन ही था। पद्य के रूप से क्षेत्रीयता गद्य में बदल गया था, लेकिन कथावस्तु 'नायर तरवाड' (यथाकथित सवर्ण वर्ग, तरवाड का मतलब है परंपरागत भवन) के इर्द गिर्द घूमती ही रही। उस समय कवियों की बड़ी चिंता होती थी शब्दों से लेकर, फलाने अक्षर के बाद किस को जोड़ने से अधिक मनोरंजन हो सकता है, वाक्य को सीधा कहना है या वक्रता के साथ कहना है, तुक मिलान आदि। पात्र का स्वभाव कुछ भी हो उसमें वरेण्य भाषा का प्रयोग बहुत ज़रूरी समझा गया। इसी संदर्भ में वैक्कम मुहम्मद बशीर, एन. पी मोहम्मद, यु. ए खादर जैसे लेखकों का उदय होता है। मुस्लिम शैली में उनके क्षेत्र में प्रचलित भाषा का प्रयोग साहित्य को नए मोड़ पर ले आया।

इस पुस्तक में लेखक मलयाली के पूँजीवाद के प्रति लगाव का भी उल्लेखन करते है। 'धन्य होना' पद का प्रयोग ज़रा देखते है, ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य की संतृप्ति दर्शाने वाला और कोई शब्द है ही नहीं। इस शब्द का अर्थ वास्तव में होता है 'धन की प्राप्ति होना', देखिये शब्द किस तरह अपना अधिकार जमा रहा है। पाप पुण्य और परलोक तो समाज में मुख्य रूप से प्रचलित थे और साहित्यकार की भी चिंता यही थी। एषुत्तचन, पून्तानाम जैसे कवि इसी भक्ति धारा के अनुयायी है। दरिद्रता को भी भगवान की लीला मानी गयी। रामापुरतवार्यर (भक्त कवि) का भी यही मानना था, दरिद्रता सामाजिक समस्या नहीं है, भगवान ही उस आभास का हल निकाल सकते हैं।

दलित और आदिवासियों की कला का अनुष्ठान रूप और सौन्दर्य पर भी चर्चा करना ज़रूरी है। तेय्यम तिरा जैसी अनुष्ठान कलाओं को अशास्त्रीय कला की श्रेणी में रखा गया है। दरअसल इतना शास्त्रीय कलारूप और कोई है ही

नहीं। कलाकार इसका अभ्यास परंपरागतरूप से करता है। उस समय बाहर के लोगों का प्रवेश निषिद्‌ध भी है। उनका अपना गान होता है उसको 'तोटम पाट्ु' कहा जाता है। अभी इस बाजारीकरण के दौर में उसका अनुष्ठान रूप बदलकर वह केवल नृत्य कला के रूप में सिनेमा, विज्ञापन आदि में प्रत्यक्ष होने लगे। ये कलाएँ आज एक तरह से कलाकार के लिए आजीविका भी है। किन्तु कहीं-न-कहीं इन कलाओं का मूल नष्ट हो जाता है। सवाल यह है कि इन अनुष्ठान कलाओं को अपने स्वत्व के साथ जोड़कर उसके कलांश का अस्वादन हम नहीं कर पाते है। लेकिन सी के जानू जैसे आदिवासी एक्टिविस्ट का कहना है कि उनके आचार अनुष्ठान उनमें रहे तो अच्छा है क्यूंकि, उसके लिए एक प्रत्येक वातावरण होता है और ये कलाएँ मुख्यधारा के आलसी समाज के लिए नहीं है, ये श्रम की कला है श्रमिक की कला है।

एक निशब्द वर्ग के आक्रोश का साहित्य उससे वे अपना स्वत्व की खोज करते है। अंत में एक दलित कवि की पंक्ति यहाँ जोड़ना ज़रूरी होगा "If the earth is not ours, how can we speak of the skys"[4] (जब यह धरती ही हमारी नहीं है तो आसमान की बातें कैसे करें)।

समाज और साहित्य के लिए अनुवाद जितना महत्वपूर्ण है उतना महत्वपूर्ण है प्रस्तुत निबंध संग्रह का अनुवाद करना भी। क्योंकि दलित साहित्य की प्रासंगिकता और साहित्य कालजयी होने वाला है, जैसे कबीर का साहित्य है। ऐसे भी कह सकते है कि कबीर जैसे कवियों से भी इन्होने आक्रोश की आवाज़ की प्ररणा ली होगी।

[4] दलित सौन्दर्यशास्त्रम, प्रदीपन पम्बिरिक्कुन्नु पृ.सं.15

द्वितीय अध्याय

<u>'दलित सौन्दर्यशास्त्रम' निबंध संग्रह का हिंदी अनुवाद</u>

1. भारतीय सौंदर्यशास्त्र और सवर्णानुभूति

भारतीय सौंदर्यशास्त्र वास्तव में शिलात्मक नहीं है। किन्तु भौगोलिक ढाँचा के अनुसार भिन्न संस्कृति के भाषा क्षेत्र होने पर भी सौंदर्य की परिकल्पना क्षेत्रीयता के अनुसार नहीं थी। संस्कृत भाषा में लिखित लावण्यशास्त्र पद्धति का ही हर क्षेत्र की भाषा के सौंदर्यशास्त्र की परिकल्पना पर प्रभुत्व रहा। नाट्यशास्त्र, अलंकारशास्त्र, काव्यशास्त्र आदि रूपों में उस पद्धति का निर्माण हुआ। इस प्रकार क्षेत्रीयता के सौंदर्य परिकल्पना का सैद्धांन्तिक रूप में निषेध हुआ। सौंदर्य तथा अस्वादन की पूर्व-निर्धारित अवधारणा इसका प्रथम बुनियादी तत्व रहा।

केरल के साहित्योतिहास के विश्लेषण से यह साफ़ स्पष्ट होता है कि एषुत्तच्चन जैसे रचनाकर भी कविता में पौराणिक कथाओं का ही विविध रूपों में पुनराविष्कार किया है। इस तरह प्रत्येक क्षेत्र की विशेषताओं को रचना में बहिष्कार किया गया। रचना का आविष्कार इस तरह किया गया कि लेखक का नाम, जन्म स्थल, जाति आदि गौण रूप से सामने आया और रचना-काल देश निरपेक्ष बन गयी। एक ज़माना ऐसा था भारत की जनता के लिए अपना देश भौतिक वास्तविकता नहीं थी, बल्कि आत्मीयता का एक अतियथार्थ संसार था। आर्षभारत, भरतक्षेत्र, कर्मभूमि, पुण्यभूमि, आदि प्रयोगों से भारत के शरीर में एक 'अखंड आत्मा' की परिकल्पना की गई।

यह अखंड भारतीय आत्मा की अवधारणा ने आम ज़िन्दगी के व्यवहार को नकारा। यह भारत के ब्राह्मणिक आत्मीय जीवन को ब्राह्मणिक दृष्टिकोण

से देखने का नतीजा था। यह दृष्टिकोण ने भारत के सांस्कृतिक जीवन की वास्तविकता को तथा उसकी क्षेत्रीयता की भौतिक ज़िन्दगी को नज़रंदाज़ किया। इसी आत्मीय दृष्टिकोण के बल पर भारत एक देश न होकर 'भारत क्षेत्र' की अवधारणा उत्पन्न हुई। साथ-साथ भगवान / आत्मा / ब्रह्म / धर्म / आदि संकल्पों के तर्कों द्वारा भारत की बुनियादी अवाधारणा का भी निर्माण हुआ। स्वयं से भिन्न एक सर्वव्यापी शक्ति की उपस्थिति / जीवशक्ति का संकल्प ही इस अवास्तविक अवधारणा का आधार है (संसार के बृहत् आख्यान शायद अद्वैद सिद्धांत हो सकते हैं!) 'वह स्वयं है' की स्थापना से दूसरा/ स्व के अंतर्विरोध के समाधान ढूँढने का काम वेदान्तियों ने किया। इस तरह एक अनंत जीवशक्ति की अवधारणा की स्थापना हुई। इसी परिकल्पना के आधार पर देश के विभिन्न क्षेत्रों को तथा उसके ज्ञानोत्पादन स्रोतों का तिरस्कार किया गया। विभिन्नता के प्रत्यक्ष उपस्थिति को सैद्धांतिक रूप से स्थापित करने का अवसर उस समय की दार्शनिक पृष्टभूमि में नहीं था, इसका तात्पर्य यह हुआ कि विभिन्नता में एकता का उपनिवेश ही सौन्दर्य की अवधारणा में भी हुआ। इस तरह भारतीय सौंदर्यशास्त्र का एक शिलात्मक रूप प्रबल हो गया।

सौन्दर्यबोध के इस एक शिलात्मक रूप का आधार क्या था? उसका आधार आनंद और अस्वादन था। उपनिषद जैसे ग्रन्थ भी आनंद और अस्वादन के अलौकिक तत्व का अन्वेषण करते हैं। आनंद को ब्रह्मानंद बनाना इनका लक्ष्य रहा। तैतरीयम में भोग से उत्पन्न आनंद की चरम अवस्था को यथार्थ आनंद कहा गया है, यह ब्रह्मानंद का केवल एक अंश मात्र है (तैतारीयम 11.7.8)। उपनिषदों की व्याख्या करते हुए मृढानन्द स्वामी भी कहते है कि 'श्रुति में कहा गया है अन्त में नहीं बल्कि अनंत में आनंद है'। मनुष्य के आनंद को अलौकिकता के साथ जोड़कर उनको सोपानबद्ध किया गया, इससे मनुष्य के भौतिक जीवन और उसका आनंद अपूर्ण सिद्ध किया जाने लगा साथ-साथ भौतिक आनंद को नकारने से भौतिक जीवन व्यवहार तथा

ज्ञानोत्पादन एवं अन्वेषण अप्रासंगिक होने लगा। पशु पालन, खेती, व्यावस्य आदि को पहली बार अर्थशास्त्र में रेखांकित किया गया (अन्वीक्षकी-अनुमान, त्रयी-वेदोपनिषद ज्ञान, दण्डनीति, वार्ता, पशुपालन आदि) इसमें वार्ता व्यावहारिक ज्ञान को सूचित करती है। यह ध्यान देने की बात है कि भारत को आत्मीय देश संकल्प से बाहर निकालकर देश या राष्ट्र के निर्माण का पहला कदम 'अर्थशास्त्र' का था, इस के लिए व्यवहारिक ज़िन्दगी महत्वपूर्ण है यह बोध ही शायद उस देश के निर्माण का आधार रहा होगा।

भारत में रस की अवधारणाएँ आनंद की भौतिकता का तिरस्कार करती हैं। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में अनुभूति का अर्थ है शरीर के चतुर्विध अभिनय से संवेदन करना, तथा उसकी अनंत प्राप्ति। इससे उत्पन्न आनंद समाज-वैज्ञानिक दृष्टि से व्याख्यायित भी है, क्योंकि कालानुसार अस्वादन और उससे उत्पन्न आनंद भिन्न होता है। ये विभिन्नताएँ आनंद की सामाजिक तथा ऐतिहासिक पृष्ठभूमि व्यक्त करती हैं। सूक्ष्म निरीक्षण से यह पता चलता है कि नाट्यशास्त्र में आनंद एक अलौकिक संकल्प नहीं है, किन्तु रस की व्याख्याएँ उसको उपनिषदों के साथ मिलाकर अलौकिक रूप में चित्रित किया गया है।

रस को अभौतिक चित्रित करके दिव्य माना गया, वह हमेशा एक बाह्य तत्व पर ध्यान देता है। आनंद की सामाजिकता को यह तत्व नकारता है। इसी आनंद और अनुभूति को ध्यान में रखकर रस, ध्वनि, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, गुण, औचित्य, अनुमान आदि सौंदर्यशास्त्र सिद्धांतों का निर्माण हुआ है। यह अनुभूति सिद्धांत मनोरंजन के रूप में विकसित हुए हैं। उपभोग के बाहर की दुनिया के बारे में किसी ने नहीं सोचा। आलोचकों की राय में इन लोक कलाओं को श्रेष्ठ कलाओं से भिन्न करने वाला मुख्य कारण है लोक-कलाएँ अध्यात्मिक अनुभूति देने में असमर्थ है। इस आध्यात्मिकता से तात्पर्य पहले बताया गया भौतिकता का तिरस्कार करने वाली ध्यानात्माकता तथा वैयक्तिकता है। व्यावहारिक जीवन तथा सामाजिक जीवन को अलग करके यह मुख्यधारा का

विकास हुआ है, इस मुख्यधारा ने केवल व्यक्ति की एकान्तता की अनुभूति को ध्यान में रखा है, इस अनुभूति को सबसे श्रेष्ठ कहा गया, उसे ब्रह्मानंद का रूप देकर सारे तत्व को उसमें शामिल किया गया। इस तरह मुख्यधारा का सिद्धांत स्वर्ण वैयाक्तिक अनुभूति के आधार पर बनाया गया है। इस सिद्धांत की स्थापना करना आसान था, क्योंकि वर्णव्यवस्था ने कभी शूद्र तथा अतिशूद्रों की मानसिकता को नहीं माना।

छान्दोग्यसूत्र के अनुसार मनुष्य को आत्मा का अन्वेषण करना चाहिए। इस अन्वेषण का सवर्ण मार्ग है ध्यान। लौकिक दुनिया से मनुष्य की लालसा का नियंत्रण करना ध्यान का लक्ष्य है। लेकिन ध्यान मुख्यधारा भारत का पहचान रहा न कि परिश्रम।

अर्थ के रहस्यात्मकता में सौन्दर्य ढूँढना इसी मुख्यधारा की विशेषता है। वाच्य यहाँ प्रमुख नहीं है। इसको सौन्दर्य को खोलने या खनन करने की प्रक्रिया की तरह माना गया। धीरे-धीरे अस्वादन एक बौधिक व्यायाम बनने के साथ-साथ एक आदत बनने लगी। श्लेष, यमक आदि अलंकार चक्रनाग बांध तथा 'समस्याएँ' (समस्यापूर्ति) केवल एक काव्य व्यायाम है जो भौतिक तथा श्रम रहित समय के उपभोग पर निर्भर है। सौन्दर्य का पूर्ण अनावरण संभव नहीं है यही अवधारणा इसका आधार है, इसलिए सौदर्य को उस ब्रह्म से जोड़ा गया जिसको जानना असंभव है। यह अवधारणा सौन्दर्य को व्यवहारिक जीवन से अलग करती है। कुम्हार, धोबी, किसान आदि के सौंदर्यबोध को दार्शनिक रूप से नकारने में मुख्यधारा सौन्दर्य संकल्प सफल हुए। संस्कृत का वरेण्य स्थान, समाज में सवर्णों का अधिकार, सिद्धांतों का उदय, मौखिक पर लिखित साहित्य की विजय, शूद्रों तथा अतिशूद्रों की शिक्षा निषेध आदि ऐतिहासिक रूप से सवर्ण व्यक्ति के अस्वादन को श्रेष्ठ मानने में सहायक बना। इन अवधारणाओं पर जीत पाना ही दलित संस्कृति के अन्वेषण का लक्ष्य रहा।

वास्तव में सिन्धु संस्कृति की भौतिकता से दलित संस्कृति का भी आरम्भ होता है। भौतिक जीवन को सबसे अधिक महत्व सिन्धु घाटी संस्कृति ने दिया। दरअसल ऋग्वेद सिन्धु गोत्र पर आर्यों की जीत का काव्य अविष्कार है। इसमें जो सवाल उठाया गया है वह एक आम व्यक्ति का है। उदहारण, कैसे एक लाल गाय सफ़ेद दूध देती है? रात को नक्षत्र प्रत्यक्ष और सुबह अप्रत्यक्ष कहाँ हो जाते हैं? क्यों नदियों के मिल जाने के बाद भी समुद्र भर नहीं रहा है? कैसे नीचे गिरे बिना सूर्य ऊपर रहता है? स्वर्ग तथा संसार की रक्षा करने वाली प्रभा किस शक्ति पर निर्भर है (ऋग्वेद 4.401.5)। ऋग्वेद के आखिरी दौर में ब्राह्मण आशय संकल्प के आधार पर भूमि को मिथ्या प्रमाणित किया जाने लगा तथा उत्पादक वर्ग के सांसारिक बोध अप्रासंगिक होने लगे। इसी को ऐतिहासिक रूप से सूचित करना दलितों ने अपना उत्तरदायित्व समझा। किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि दलितों की जो उत्तराधुनिक अवधारणा के होने से पहले ही इस पर अन्वेषण करने लगे थे।

सांप्रदायिक मार्क्सवाद की दृष्टि में वैयक्तिक सौन्दर्यानुभूति की मूल वर्गीयता के विश्लेषण में है। इनके अनुसार सौन्दर्यव्यवस्था आर्थिक अस्थिरता का परिणाम है। किन्तु असल बात तो यह है कि भारतीय सौन्दर्य संकल्प वर्ण तथा जाति से हमेशा सम्बन्ध रखता है। पहले बताया गया अनुभूति का निर्माण तथा चित्रण वर्णव्यवस्था के आधार पर ही हुआ है। एक धनिक ब्राह्मण तथा एक दरिद्र ब्राह्मण एक ही वर्णव्यवस्था में बंधित है, वह उत्पादन हेतु मिट्टी का स्पर्श नहीं करता। ब्राह्मण के लिए ज़मीन एक दार्शनिक मिथ्या है, इसलिए कांचा इलय्या कहते है कि - "ब्राह्मण कभी देश प्रेमी नहीं बन सकता। वर्णव्यवस्था को जीवित रखने वाला तत्व केवल बाह्य आर्थिक स्थिति नहीं थी बल्कि आतंरिक नियमों से युक्त सामाजिक अधिकार भी था। इसीलिए केवल एक बाह्य व्यवस्था के परिणाम के अंतर्गत सामाजिक समत्व संभव नहीं है।"

सौ वर्षों से चले आ रहे सवर्ण अधिकार को निशब्द रूप से उल्लिखित

करने वाले वेदशास्त्रों को पुनर्जागृत करके ही देशीय आंदोलनों ने पाश्चात्य उपनिवेश से लडाई की थी। देशीय आन्दोलन ने निम्न वर्ग को हरिजन नाम इसी के आधार पर दिया है, हरी से तात्पर्य है विष्णु, गांधीजी बड़े वैष्णव थे। देशीय आन्दोलन के समय से ही महात्मा फूले तथा पेरियोर ई.वी. रामस्वामी नायकर को यह पता चल गया था कि परंपरागत साहित्य के ब्रह्मा-विष्णु आदि का समर्थन तथा निराकरण से ही दलित वर्ग आगे बढ़ सकते है। इसलिए फूले ने कहा था 'जाति के आधार पर विभाजित किए गए एक भूप्रदेश को देश नहीं कह सकते'। अम्बेडकर ने गांधीजी की तरह अस्पृश्यता को हिन्दू धर्म की जातीय समस्या न मानकर, समाज के जातीय असमत्व को मानवाधिकार की समस्या माना। शायद भारतीय साहित्य में दलित अर्कीटाइप के प्रतिनिधित्व पर संशय करते हुए गांधीजी के रामराज्य, या रामास्वामी नायकर और फूले के रावण राज्य, बली राज्य के देशीयता के अन्वेषण की अवधारणा को नज़रंदाज़ कर अम्बेडकर ने समाजिक, लोकतांत्रिक अन्वेषण किया। अम्बेडकर से आरंभ 'दलित' का यह अन्वेषण जातीय अस्मिता से लेकर उसी में ख़त्म होने वाला तत्व नहीं है, बल्कि वह जाति विरोध का अन्वेषण है। अर्थात् दलित आन्दोलन का लक्ष्य जातीय अस्मिता की स्थापना नहीं जातीयता का अंत था। जाति विरोध के ऐतिहासिक उत्तरदायित्व के कारण से ही जब एस.एन.डी.पि, एन.एस.एस जैसे संगठन आन्तरिक जातीय आधुनिकीकरण के उपरांत जाति विरोध को नज़रंदाज़ कर जातीयता को स्वीकार किया तब अय्यंकाली संगठन को जाति को सामाजिक आश्रय के रूप में स्वीकार किये बिना स्वयं शिथिल होना पड़ा। इसलिए सवर्ण मुख्याधारा द्वारा निशब्द किये गए दलित ज्ञान-सौन्दर्य अवधारणाओं को सांस्कृतिक मूलधन (cultural capital) बनाकर उसका उद्धारण करना ही दलित आन्दोलन का सबसे बड़ा कर्तव्य है। दलित व्यवहारों का उद्धरण तथा सृष्टि के बोध को अन्वेषण का विषय बनाना आवश्यक है। एक नमूना देखते है-

कुमारगुरुदेव गाय तथा भैंस को मारने का विरोध इसलिए करते है कि गुलामी के समय 'परयर तथा पुलयर'[5] ने इनसे अपने दुःख बांटे थे न कि वह एक दिव्य मृग है। यह प्रकृति और मानवता को कैसे भौतिक रूप से व्याख्यायित करते है इसका नमूना है।

अम्बेडकर का चित्र देखें उनकी वेशभूषा पाश्चात्य एवं आधुनिक है, और गांधीजी की एक टिपिकल भारतीय सन्यासी की। दलित जनता अपनी गुलामी की याद दिलाने वाले वेशभूषा से जुड़ नहीं पायें शायद इसी बोध से स्वयं आधुनिक रूप धारण करने में अम्बेडकर को प्रेरणा मिली होगी। सिविल नियम, सामाजिक समत्व तथा शास्त्रीय युक्ति का उत्पादन अम्बेडकर का यह ड्रेस कोड करता है। जातीय आन्दोलनों से अधिक सामाजिक लोकतांत्रिक बोध से ही संविधान का निर्माण हुआ है। हम जानते है मार्क्सवाद की जातीय क्रांति बाद में पर्लामेंट्री लोकतंत्र बन गया था। वस्तव में अम्बेडकर से निर्मित संविधान ने ही एक हद तक दलितों का संरक्षण किया है तथा करता आया है। इस तरह धरती तथा जीवन की तत्कालीन ब्रह्मणिक व्याख्या को सामाजिक नीति से युक्त व्यवस्था में परिवर्तित करना ही दलित सांस्कृतिक आलोचना का कर्तव्य है। एक दलित कवि का कहना है अगर यह धरती हमारी नहीं है तो कैसे हम आसमान की बात कर सकते है (If the earth is not ours, how can we speak of the sky)।

(2006)

[5] केरल की एक दलित जाति का नाम

2. क्षेत्रीय आख्यान और तरवाटू (कोठी) का सांस्कृतिक मूल्य

भारतीय साहित्य में क्षेत्रीय आख्यान एक सुरक्षा की प्रक्रिया भांति है। क्षेत्रीय साहित्य का विकास ब्राह्मणवादी साहित्य के विस्तार के रूप में हुआ है। मलयालम साहित्य की स्थिति भी अलग नहीं थी। भौतिकता का तिरस्कार ही ज्यादातर साहित्य में दिखायी दिया। कृतियों के अनुवाद में मूलभाषा से बहुत अधिक निकटता स्थापित की। साहित्य इतना प्रादेशिक निरपेक्ष था कि, उसको पढ़ने से कवि का स्थान, समय आदि पता चलता है। 13 और 14 में रचे संदेशकाव्य उन्नियार्चा की कथा[1] आदि में केवल वस्तुचित्रण था।

साधारण जीवन संस्कृत साहित्य के लिए कम महत्वपूर्ण था। रचना में व्यवहारिक जिंदगी को नहीं बल्कि इतिहास और पुराणों को महत्व दिया गया। किसी ने भी प्रकृति वर्णन तथा व्यवहारिक जीवन से युक्त संघम साहित्य को आधार नहीं बनाया। मनुष्य को उसकी प्रादेशिकता के साथ जोड़कर देखने की प्रवृत्ति किसी में भी नहीं थी। लेकिन भक्ति के वरेण्य संस्कृत मार्ग को अपनाकर मलयालम साहित्य ने प्रादेशिकता को चम्पू साहित्य से भी हटाया। इसी संस्कृत मार्ग के द्वारा कन्नाशन, चेरुश्शेरी, एषुत्तचन, पून्तानम, मेल्पत्तूर आदि कवियों ने भारत और केरल को एकमात्र देश माना। शंकराचार्य ने भारत के चारों ओर मठों की स्थापना की, भारत के नाम से केरल की गरिमा तथा रोशनी भी बढ़ गयी। इसी दौरान केरल की सबसे बड़ी नदी का नाम भी 'भारतप्पुषा' पड़ गया। केरलीयता से तात्पर्य देशीयता को भाषा के स्तर पर लाना पड़ गया। मलयाली की संस्कृति-भाषा तथा भौतिकता की पृष्ठभूमि पर नहीं बल्कि भारतीय मिथकों तथा पुराणों के आधार पर बनी है। अर्थात् भाषा-संस्कृति उसके लिए आतंरिक प्रेरणा नहीं थी।

कुंजन नम्बियार में पहली बार मुख्य रूप से विभिन्नता देखने को मिलती है। छोटे-छोटे राज्यों में क्षेत्रीय अधिकार शक्त होने से प्रत्येक प्रान्त विशेष या

क्षेत्रीयता के चित्रण को साहित्य और काव्यों में स्थान मिलने लगा। कुंजन नम्बियार की रचनाओं में पात्र पौराणिक पृष्ठभूमि को छोड़कर देश-काल की संभावनाओं को महत्वपूर्ण माना। किन्तु क्षेत्र का वर्णन बाद में एक व्यंग्य के रूप होने लगा। शायद इसी कारण से ही कुट्टीकृष्णन मरार जैसे बृहत् परंपरा के चिन्तक को भी कुंजन नम्बियार का साहित्य हजम नहीं हुआ होगा।

कुन्जन नम्बियार का आरम्भ पद्य में था बाद में उन्होंने गद्य में अपनी रचना शैली को परिवर्तित किया। प्रांत विशेष के आख्यानों में मुख्य रूप से तीन धारा दिखाई देती है। तिरुवनंतपुरम को केंद्र बनाकर लिखा गया सी.वी. रामनपिल्ला द्वारा रूपायित देशभक्ति राज सत्ता सम्बंधित उपन्यास, दक्षिण में चन्तु मेनोन, पोत्तेरी कुंजम्बू आदि द्वारा रचित ज़मींदारी उपनिवेशों का उपन्यास, इन सबके बीच में उरूब, एम्.टी. वासुदेवन नायर, चेरुकाड आदि के सामंतवाद के शिथिलीकरण का उपन्यास आदि। इसमें आज के मलप्पुरम जिला और पालाक्काट जिला के बीच स्थान वल्लुवनाड नामक प्रदेश में चित्रित उपन्यासों की मुख्य विशेषता केवल नायर परिवारों के आभ्यंतर शिथिलीकरण का अविष्कार था।

इन तीन धाराओं का सामान्य स्वाभाव यह है, प्रांत प्रतीकों को संस्कृति के मुख्य नक़्शे में समन्वित करना। एम्.टी. लिखते है- "अनेक भू-विभागों के खोज में निकलने पर भी बार-बार मैं वापस अपने प्रांत में ही वापस लौटता हूँ... शायद, निगूढ़ अद्भुतों को अपने गर्भ में धारण करने वाले समुद्रों से अधिक मुझे मेरी 'निला नदी'[16] पसंद है, जो मेरे लिए अन्य नहीं है (एम्.टी के चुनी हुई कृतियों की भूमिका)।

यही आंचलिक ऊर्जा ही वल्लुवनाडन उपन्यासों को विशेष बनाती है। इसमें सबसे महत्वपूर्ण सामाजिक घटक है तरवाडू (पुरखों का घर या पुराने खानदानी

[6] केरल की सबसे लम्बी नदी का नाम, जिसको भारतपुषा भी कहते है

घर की अवधारणा है, उस घर को तरवाड़ू बोलते है) जिसके इतिहास पर प्रश्न चिन्ह है। तरवाड़ू क्या है? तरवाड़ू गृह का एक नाम नहीं है, वह एक संयुक्त परिवार की व्यवस्था है। वह एक तरह से मातृसत्तात्मकता से सम्बंधित व्यवस्था का प्रतीक है। पी.भास्करनुन्नी कहते है - इस अवधारणा का प्राथमिक प्रमाण नायर समाज में मिलता है (19वीं शती का केरल, पृष्ठ. 488)। तरवाड़ू की दौलत की अधिकारी घर की स्त्री थी। नायर तरवाड़ू मुख्य रूप से ब्राह्मणों की लैंगिक कॉलोनी थी। नायर जाति के पुरुषों में से जितने पुरुषों को चाहे लेने का अधिकार स्त्रियों को था। 1912 के सेंसेस के अनुसार केरल में ऐसे नायर तरवाड़ू भी थे जहाँ 100 से अधिक सदस्य थे। जहाँ लोग स्वयं पिस रहे थे। तरवाड़ू की पारंपरिक धन-दौलत ही सदस्यों की आजीविका थी, कहा जाता है सदस्यों के खाने पीने की व्यवस्था पूर्वार्जित धन-दौलत से होती है (पी भास्करनुन्नी पृष्ठ संख्या. 501)। विरासत की इसी व्यवस्था से ही मलयाली तरवाड़ू की महिमा का उदय हुआ। 1875 के जनगणना रिपोर्ट में यह कहा गया कि धीरे-धीरे तरवाड़ू में अतृप्ति होने लगी तथा घर के बुजुर्गों से आजीविका ढूँढने के लिए कहा गया जो बाद में कलह और विच्छेद का कारण बना (पी भास्करनुन्नी, पृष्ठ. 500)। केरल के उत्तर और दक्षिण में इन नायर तरवाड़ू के पतन की कहानी कहकर अधिकतर उपन्यासों का आरंभ हुआ है। किन्तु केरल में उस समय भी नायर व्यवस्था एक सांस्कृतिक आदर्श व्यवस्था का रूप नहीं था। उपन्यासों का भी लक्ष्य उसके पतन का वर्णन था। व्यक्ति परिवार/ तरवाड़ू से अधिक महत्वपूर्ण है, आधुनिकता की यह अवधारणा तब तक उभरकर आने लगी थी। तरवाड़ू का ऐश्वर्य के साथ-साथ यह अवधारणा भी बढ़ने लगी।

"यहाँ एक छोटा सा घर चाहिए जहाँ हवा और प्रकाश अच्छे से आये, बस" (नालुकेट्टू, 119 उपन्यास), यह वाक्य तरवाड़ू संयुक्त पारिवारिक व्यवस्था से व्यक्ति में सीमित होने के परिवर्तन का उदहारण है।

"इसको इंसान की तरह पालना चाहिए" यह असुरावित्तु (असुर पुत्र)

(एम्.टी. के उपन्यास) में गोविंदन कुट्टी उर्फ़ अब्दुल्ला कहता है।

1920 में कोचीन में नायर रेगुलेशन एक्ट 1924 में तिरुवितांकूर में आलोहरी नियम, 1933 में मालाबार में मातृसत्ता का नियम आदि लागू किया गया। तिरुविताम्कूर और दक्षिण मालाबार में इन नियमों का विकासात्मक दृष्टि से पालन किया गया, किन्तु वल्लुवनाडन उपन्यासों में यह केवल एक दर्द बनकर रह गया। इसलिए वह पतन का प्रतीक के रूप में रह गया। केरल के उत्तर-दक्षिण उपन्यासों का मुख्य अंतर बाह्य हस्तक्षेपों का आघात नहीं था बल्कि मूलवस्तु आतंरिक थी, यही अंतर का अविष्कार वल्लुवनाडन उपन्यासों में किया गया। तिरुवितांकूर उपन्यासों की मुख्य विशेषता सत्ता के साथ देश स्नेह का भी अस्तित्व था। सी.वी. के उपन्यासों में देश स्नेह विदेशियों से और ब्राह्मण सत्ता के विरोध के द्वारा दिखायी दिया। यह बाद में नायर तरवाडू के आख्यान बन गया। किन्तु यहाँ उपन्यासों का मुख्य विषय ना तरवाडू का पतन था ना कि इतिहास का कोई गतिरोध। दक्षिण केरल में इन्दुलेखा (ओ.चंतुमेनोन का प्रसिद्ध उपन्यास) में पाश्चत्य आधुनिकता को विकास के पक्ष में रखकर क्षेत्रीय जीवन व्यवस्था को परखने का प्रयास था। इन रचनाओं में यह अवधारणा है कि तरवाडू के परिवर्तनों का होना इतिहास की चलनात्मकता का प्रमाण है। किन्तु एम्.टी के उपन्यासों ने बाह्य शक्ति से नहीं आतंरिक रूप से शिथिल होने वाले स्थापन के रूप में इन इतिहास संदर्भों को देखा। फिर भी अतीत में वापस जाने के लिए इच्छुक एक पात्र एम्.टी के उपन्यासों का एक सुप्रधन हिस्सा था। वह व्यक्ति काल के प्रवाह को मानविक संबंधों के पतन की नज़र से अनुभव है। यह व्यक्ति आधुनिकता में प्रवेश करने के लिए इंतजार करने वाला तथा अतीत के पवित्र संबंधों के बीच में चिंतित होने वाले एक व्यक्ति का प्रतीक है। अप्पुन्नी, सेतु गोविन्दनुन्नी (एम्.टी के उपन्यासों के पात्र) आदि इस व्यक्तित्व का उदाहरण है।

एम्.टी के उपनास्यों में तरवाडू को काल को समर्पित करने वाले का

इतिहास बोध नहीं बल्कि तरवाडू से तिरस्कृत लोगों का क्रोध दिखाई देता है। एम्.टी, उरूब, चेरुकाड (मलयालम के प्रसिद्ध लेखक) इन सबका विषय एक ही था तरवाडू का पतन, फिर भी उनमें कुछ अंतर भी हैं। चेरुकाड़ की रचनाओं में तरवाडू के साथ व्यक्ति, परिवार आदि के पतन का भी वर्णन मिलता है (एम्.कुट्टीकृष्णन)। उनकी राय यह थी कि इतिहास की स्वाभाविकता का स्वीकार उससे होता है। उरूब की कृतियों में भी विषय यही था, उसको माप्पिला लहला (मुस्लिम लड़ाई) (सुन्दरिकलुम सुन्दरनमारूम नामक उपन्यास से) की तरह सिर्फ एक बाहरी कारण चाहिए। किन्तु जब उरूब समाज को सामने रखकर मानसिक संघर्षों का चित्रण करने का प्रयास किया तब एम्.टी ने समाज को पीछे हटाकर तरवाडू को मुख्य विषय बनाया, और उनमें मनुष्य के रिश्ते को महत्व दिया। इस तरह तरवाडू के सदस्यों का रिश्ता सबसे बड़ा निर्मल संबंध बना। उसी से केरल ने आदर्श संबंधों के प्रतीकों के रूप में इनको स्वीकार किया। चन्तुमेनोन या सी.वी की रचनाओं की भाषाओं को उतनी स्वीकृति नहीं मिली थी। सबसे दृढ संबंधों की कथा तरवाडू में ही हुई। किन्तु इस निर्मलता न दक्षिण में तच्चोली तरवाडू (तिय्या जाति का तरवाडू) या उत्तर में। इरविकुट्टी की वीर गाथाओं से नहीं नायर तरवाडू के कुछ निस्सहाय लोगों के गुणों से उत्पन्न है। इनके आचार समाज के सामान्य संबंधों के प्रतीक बन गए। उनकी भाषा को सेक्युलर रूप से केरल ने स्वीकार किया। 'वीड' (घर) शब्द का प्रयोग भवन के लिए नायर जाति के लोग करते थे (लोगन मलबार मैन्युअल-87), ब्राह्मण 'इल्लम'(परमपरागत रूप का बड़ा भवन जहाँ सिर्फ ब्राह्मण रहते है) का प्रयोग किया, तीय्यन पुलायन वर्ग के लिए अपना घर 'पुरा', 'चाळा', या माडम (इन सब शब्दों का अर्थ है झोम्पटी, या कुटिया) है। किन्तु केरल में सामान्य रूप से घर शब्द के लिए 'वीड' शब्द का ही प्रयोग करते है यानी वह प्रयोग सामान्य और सेक्युलर रूप बन गया (किन्तु घर बनने के बाद उसको गृह-प्रवेश ही बोलते है, वहाँ गृह का प्रयोग किया जाता है)। नायर समुदाय की अचूकता से

ही ऐसी संभावनाओं का उदय हुआ। 'नायर समुदाय का इतिहास' नामक रचना में पट्टम रामचंद्रन नायर कहते है "ब्राह्मणों को यहाँ (केरल) जो स्थान मिला है वह नायर समुदाय की देन है। यह बात स्पष्ट थी कि उस समय की व्यवस्था में कोई और वर्ग उतने शक्तिशाली नहीं थे, यह इतिहास की वास्तविकता है। केरल में अन्य किसी जाति द्वारा ब्राह्मणों को उन्नत पद पर बैठकर पूजा नहीं करते थे, इससे यह स्पष्ट होता है कि जो स्थान बाद में उनको मिला वह सिर्फ नायर जाति की देन है" (पृष्ठ. 28)। वे आगे कहते है - "अगर केरल का एक विशेष इतिहास है तो वह सिर्फ नायर समुदाय की परंपरा में प्रतिष्ठित इतिहास है" (पृष्ठ. 30)।

नायर समुदाय की विरासत के तरवाड़ू और जो भी उनके भवन हैं तथा उनके आचार व्यवहार बाद में केरलीय समाज का सामान्य व्यवहार के रूप में परिवर्तित हुए। कथकली आज पूरे केरल की सांस्कृतिक कला है, किन्तु वास्तव में यह एक ज़माने में केवल नायर समुदाय का नृत्य रूप था।

इस इतिहास का एक और चेहरा देखते है। वल्लुवनाड में क्यों मुस्लिम संस्कृति एक क्षेत्रीय प्रतीक का रूप नहीं ले पायी? यहाँ से निश्चित रूप से साहित्य में मालाबार की मुद्रा के होने की सम्भावना थी। पोन्नानी के मोईन कुट्टी वैद्य की पीढ़ी के मक्ति तंगल की रचना अथवा मुस्लिम की पहली मलयालम रचना 'कठोर कुठारम' से नयी गद्य शैली के होने की कोई सम्भावना नहीं थी। बाद में मलयालम साहित्य तथा समाज में मुस्लिम संस्कृति की छाप छोड़ने के लिए वैक्कम से बशीर, कोषीक्कोड़ से एन.पी मोहम्मद और यु.ए खादर को सामने आना पड़ा।

मलयालम के उपन्यास और लघुकथा की गद्य भाषा की खासियत भी महत्वपूर्ण है। वार्तालाप में पात्र का भाषा प्रयोग जो भी हो आख्यान करते समय लेखक वरेण्य भाषा का ही प्रयोग करते हैं। इससे यह व्यक्त होता है कि यहाँ

भाषा या शैली की आत्मचेतना का बोध महत्वपूर्ण है नाकि जिस वर्ग पर लिखा जा रहा है, या उनकी ज़िन्दगी। आत्माभिव्यक्ति के लिए लेखक वरेण्य भाषा को ही स्वीकार करते है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि वल्लुवनाडन भाषा का प्रयोग जिस तरह सामाजिक व्यवहारों में है उसी तरह स्थान लेगा। एम्.टी ने जि- जिस तरवाडू व्यवहारों का प्रक्षेपण अपनी कृतियों द्वारा किया उसके परिणामस्वरूप ही यह व्यवहार केरलीय समाज में प्रबल हो गया। यह तरवाडू एक विरासत के रूप से बदलकर संस्कृति के आधार बनाने की प्रक्रिया थी। मातृसत्तात्मक (मरुमक्कत्तायम) एवं संयुक्त परिवार व्यवस्था का नाश होने के बाद भी अपने तरवाडू के बारे में आज भी केरलीय चिंतित हो जाते है। तरवाडू व्यवस्था को चित्रित करने वाले मलयालम टी.वी धारावाहिकों पर एम्.टी की कृतियों का प्रभाव है। वे सामाजिक समस्याओं को नज़रंदाज कर पारिवारिक संबंधों पर केन्द्रित हो जाता है। एम्.टी.के साहित्य में संसार और समाज केवल व्यक्ति पर निर्मित है।

इसी रास्ते से इन्दुलेखा जैसे उपन्यासों का नायर तरवाडू की कहानी कहते हुए विकास हुआ। उसी तरह देव के 'अयल्क्कार' (पडोसी), तकषी के 'कयर' (रस्सी) जैसे कितनी रचनाएँ... बाद में यह तिय्य समुदाय (एक दलित जाति का नाम इनको ईषव भी कहते है) के तरवाडू की ओर जाती है। कोविलन के उपन्यास 'तटकम' से ओ.वी. विजयन के उपन्यास 'तलमुरकल' (पीढियां) तक उपन्यास परिवर्तित होता रहा। 'माधवीकुटी' में वह 'गृहतुर' बन जाता है।

वैलोप्पिल्ली का मानना है कि एम्.टी कृतियों में तरवाडू की आर्थिक व्यवस्था का चित्रण नहीं होता है। यह बहुत महत्वपूर्ण भी है। तरवाडू को सांस्कृतिक मुद्रा तथा गौरव का प्रतीक बनाने का ही प्रयास एम्.टी की ओर से हुआ है। आर्थिक शोषण मुक्त एक पारिवारिक व्यवस्था के रूप में इसका विकास हुआ है। वह व्यवस्था एक ऐसा काल्पनिक माहौल का चित्रण करती है जहाँ जीने के लिए साधारण लोग भी चाहने लगे।

इसी तरह तरवाडू से सम्बंधित आशय, पद, आचार-अनुष्ठान केरल में सामान्य व्यवहार का रूप लेने लगे। जिस तरवाडू की व्यवस्था का चन्तुमेनोन (इन्दुलेखा में) ने मजाक उड़ाया, उसी व्यवस्था को निर्मल एवं नोस्टालजिक बनाने का प्रयास एम्.टी. की रचनाओं ने किया। केरल के अन्य घरों की सामग्री एवं फर्नीचर की साज सज्जा के पीछे इसी तरवाडू व्यवस्था का साधारण घर के ऊपर चढ़ाव है। भारतीय सवर्ण धारा से आंचलिक विशेषता को भिन्न करने वाला साहित्य आगे जाकर उसी सवर्ण आख्यान का उदाहरण बन गया।

नायर समुदाय का अधिकार इसका एक मुख्य कारण है। केरलीय सामजिक राष्ट्रीय सत्ता के प्रबल वर्ग के रूप में इनको देखा गया। रोबिन जफ्री का 'नायर अधिकार के पतन' पर राय अति-महत्वपूर्ण है।

एक और ऐतिहासिक ऐरनि यह है कि आज धारावाहिक भी एम.टी के दिखाए हुए उस 'तारवाडू' के गृहतुर अवस्था में फिर से वापस जाने की इच्छा रखने वाले समाज को ही दिखाते है। यानि इसी से समय और काल यह साबित करने की कोशिश कर रहा होगा कि रचनाकार नहीं रचना महत्वपूर्ण होती है।

(2006)

3. दलितों की उत्तराधुनिकता

भारतीय सौंदर्यशास्त्र का बुनियाद नाट्यधर्मी अथवा Stylised acting था,यानि वह सदा एक अतिशयोक्ति थी। इस सौंदर्य ने साधारण गतिविधियों के लिए भी मुद्राओं का प्रयोग किया, तथा वास्तविकता को अलंकार के साथ जोड़कर देखा। ऋग्वेद में कहा गया है कि जैसे चावल के आट्टे को छलनी में छानते है ठीक वैसी ही बुद्धिमान व्यक्ति अपने मन में शब्द को छानते है (ऋग्वेद - 71), यह भी एक अलंकार है। सौन्दर्य अभिधा की वक्रता है, इस बात को स्थापित करने का प्रयास किया गया। अभिनव गुप्त के शब्दों में जैसे 'राजा के लिए मुकुट है वैसे काव्य के लिए अलंकार (मकुटादयो अलंकारा:), अर्थात साहित्यशास्त्र को 'अलंकारशास्त्र' कहा गया। औचित्य को भी अलंकर माना, इसलिए केवल सर्व अलंकार विभूषित राजा, प्रभु, राजकुमार आदि साहित्य का विषय बना, साधारण जनता उस सौन्दर्य की दृष्टि में नहीं थी। उस जनता ने इतना श्रम किया कि वे धरती के अलावा आसमान कभी देख नहीं पाए, उनके लिए धरती ही एकमात्र प्रमाण था, न कि आकाश, अत्मा या स्वर्ग। प्रसिद्ध आलोचक केमिलटन एक कहानी कहते हैं, जब मनुष्य ने पहली बार चाँद पर अपना कदम रखा तब एक श्वेत व्यक्ति ख़ुशी के मारे नाचने लगा, झुककर खेती में अपना काम करने वाला एक किसान से घृणा की भाषा में उसने पुछा:

"पता है? मनुष्य ने चाँद पर अपना कदम रखा।"

बिना सिर उठाये उस किसान ने जवाब दिया,

"क्या मनुष्य का धरती में अपना सारा कार्य ख़त्म हो गया ?"

इस कहानी की तरह भारत में किसान के लिए धरती ही अपनी एकमात्र आजीविका थी। उसकी ज़िन्दगी भी उस सवाल की तरह भौतिक-यथार्थ थी, लेकिन अलंकार के सृष्टिकर्ता भू-स्वामियों का जीवन ऐसा नहीं था।

ब्राह्मण की यात्रा को जुलूस कहा गया, खाने को 'अमृतेत्त'[7] कहा गया और नींद को 'पल्लियुरक्कम'[8], उनके हर व्यवहार के लिए तथाकथित उदात्त शब्दों का प्रयोग किया गया। इस उदात्तता का कारण यही सौंदर्यबोध था। श्रमिक को तुच्छ माना गया, शरीर से अधिक महत्व बुद्धि को दिया गया। शरीर को अप्रासंगिक मानकर आत्मा का अन्वेषण करना, साधारण चीज़ों को भी अलंकर से बड़ा चढ़ाकर वर्णित करना ये सब भारतीय सौन्दर्यबोध का सामान्य व्यवहार था।

केरल में भी सौन्दर्यबोध इसी अलंकार के आधार पर ही हुआ है। निओ क्लासिकल काव्यों में मुख्य रूप से इसकी चर्चा हुई कि बात को सीधे रूप में प्रस्तुत करना है या तुक मिलाकर। किसी भी रचनाकार को अपनी बात कहने के लिए केरला वर्मा या ए.आर के आलंकारिक अवधारणा से सहमत होना पड़ता था। इस तरह सौन्दर्य का वर्णन विचित्र बनने लगा, अक्षरों को नाग और चक्र से बांधा गया, समस्या-पूर्ती के नाम पर कविता को नीलाम पर रखा गया, यथार्थता केवल 'शुद्ध-सौन्दर्य' की भाषालीला बनने लगी। 'इन्दुलेखा'[9] में पाठक तथा लेखक चन्तु मेनोन को एक तरह एक ही विषय में ही चिंता थी कि वस्त्र का अंत कहाँ है तथा शरीर का आरम्भ कहाँ है? 'गणपति' में वल्लत्तोल कहते है-

“नवनीत सा शरीर में सुगन्धित तेल लगाकर

हलके वस्त्र पहने वेदिका पर बैठी उस नतांगी ने-

त्रिनेत्र के नयनों को दिया आह्लाद का उत्सव “यानि शरीर के सौन्दर्य का प्रदर्शन और उसमें प्रसन्न होना ही यथार्थ माना गया (एक आलोचक कहते है

[7] ब्राह्मण तथा राजाओं के खाने के लिए अमृत कहा जाता था

[8] ब्राह्मण तथा राजाओं के नींद लिए पल्लियुरक्कम कहा जाता था

[9] मलयालम का पहला उदात्त उपन्यास

अगर पार्वती ऐसे हलके वस्त्रों में मक्खन जैसे शरीर पर तेल लगाकर बैठेगी तो सिर्फ त्रिनेत्र नहीं कटाक्षपूर्ण आँखों वाला व्यक्ति भी आकर्षित हो जायेगा)।

इसीलिए अलंकारों को ठुकराने वाले नम्बियार[10] तथा बशीर को देखकर तत्कालीन ब्राह्मणवादी साहित्यकार अपना संतुलन खो बैठे। नम्बियार ने देवों को नायर[11] तथा बशीर ने पुरुषों को वेश्या बनाकर यथार्थ संसार का अविष्कार किया। इसी यथार्थ को देखकर हैरान हुए मलयाली को हमने देखा है।

हमारी परंपरागत सौन्दर्यशास्त्रीय अवधारणा के अनुसार सौन्दर्य एक आतंरिक शाश्वत मूल्य है। इसलिए यह इस अवधारणा के आधार पर साहित्य की संरचना को आदर्श माना गया और सामाजिक घटना को नाकारा गया। इस सत्तात्मक सौन्दर्य बोध ने साहित्य को केवल मनोरंजन का केंद्र बना दिया। अलंकार की अधिकता ने वास्तविकता की झूठी स्थूलता की सृष्टि की, सूक्ष्मता को उसने नकारा, इन आलंकारिक प्रयोगों ने व्यवहारिक ज़िन्दगी की वास्तविकता को केवल सौन्दर्यात्मक ढांचे में रखकर अवास्तविकता का पोषण किया। हमारा साहित्य यथार्थता का काल्पनिक मुख था (मलयालम कविता के बारे में जयमोहन का अभिप्राय था, इस अभिप्राय की ही केरल वासियों ने उपेक्षा की)। वास्तव में, यही कल्पनिकता ही केरल के कम्युनिस्ट आन्दोलन के विकास का घटक है। इसी तरह वर्गराष्ट्रीय, जातिवाद का खंडन आदि काल्पनिकता झूठे दिलासों के प्रति दलित / अधःकृत वर्ग को आकर्षित हुए, जैसे 'रंडिडन्गषि'[5] में कोरन के साथ हुआ था। अय्यंकाली को छोड़कर तकषी जैसे अन्य लेखकों ने बच्चों को स्कूल भिजवाने की नहीं यूनियन में अंग होने की बात कही, यानि वे भी इस काल्पनिकता से मुक्त नहीं थे। इतिहास रहित इस काल्पनिकता के एक और उत्तम उदाहरण है 'रंडिडन्गषि' में 'परयन' और 'पुलयन'[612] के मुक्ति के

---

[10] केरल सवर्ण जातियों का नाम

[11] तकषीशिवशंकर पिल्लै द्वारा रचित उपन्यास

[12] दलित जाति का नाम

आन्दोलन में शिक्षा का कहीं भी उल्लेख नहीं था, यानि शिक्षा को महत्वपूर्ण नहीं माना गया (किन्तु सिनेमा है, कम्युनिस्ट आन्दोलन है,कांग्रेस है, गाँधी है)।

वेणु की राय में नक्सलेट असाधारण काल्पनिक थे। अपना खेत कभी अपना नहीं हुआ, बल्कि खेत को चौरस करके दलित किसानों को दस हज़ार (11500) से अधिक हरिजन कॉलोनियों में भिजवाया गया यही वास्तविकता है।

एक और हकीकत यह है कि, रेत और ज़मीन में काम करने वाले मज़दूर को नदी के किनारे अकेले बैठकर सपने देखने की इच्छा नहीं है, क्योंकि सिर्फ सपने देखने से उसकी भूख नहीं मिटेगी। रेत लूटकर नदी को मारने के सत्य से कवि वाकिफ़ नहीं थे, इसलिए अकेले सपनों के काल्पनिक जगत में वे रहें। कुछ बातें ऐसे है वह अलंकारों से परे है-

“आज के उदित चाँद को बेचकर मैं पैसा कमाऊंगा।” (निकोलस गियन)

इस तरह एक विकसित बाज़ारी संस्कृति हमारे सामने है, वह संस्कृति इस कविता की तरह कल्पना से परे है। लेकिन जनता का काल्पनिकता में बंद रहना बाज़ार की आवश्यकता है, क्योंकि इसी काल्पनिकता के आधार पर हमारी ज़रूरतों का निर्णय हुआ है।

हमारा साहित्य सिर्फ वास्तविकता को नहीं बल्कि भाषा को भी काल्पनिक बना रहा है (अभी कोई उत्तराधुनिकवादी कह सकते है वास्तविकता नाम की कोई चीज़ नहीं सब केवल एक भाषालीला मात्र है, थोड़े समय के लिए उसको नज़र-अंदाज़ करते हैं। एक उदहारण देखते है “जल के पर्दों से गुज़र के वह चलने लगा बीच में शीशे का पटल भी था, सपनों को छूकर संध्या की प्रज्ञा ने उसने पुकारा, उस अनंत सत्य की ओर उसकी यात्रा है” आत्महत्या की निस्सहायता भी साहित्य में एक साधारण सी अनुष्ठान प्रक्रिया थी। आलोचना भी अलंकर में कहीं न कहीं फँस गयी है। मित्र के लिए केवल 'सतीर्थ्य' शब्द का ही प्रयोग करने वाले और शब्द कोष का सहारा लेने वाले साहित्यकार आज भी

है, जो उसी काल्पनिक साहित्य को जारी रखकर लकीर के फ़कीर रहतें है। काल्पनिकता केवल 'चंगम्पुषा' का (अच्छे/बुरे) विशेषण नहीं समस्त मलयाली समूह का एक खास कमजोरी है। भाषा को भौतिक बनाने की प्रक्रिया हमारी संकृति की विशेषता है, क्योंकि भारत के सन्दर्भ में काल्पनिकता तथा आत्मीयता का वर्णव्यवस्था से अटूट सम्बन्ध है। वह किसी भी पत्थर को भगवन बनाता है, साथ-साथ दलितों की उपेक्षा भी। भारतीय अत्मीयता सामान्य रूप से सवर्ण होने के कारण शब्दों का प्रयोग भी बहुत सोच समझकर करना चाहिए। अवर्णों की आत्मीयता से तात्पर्य तपस्या नहीं बल्कि सामाजिक पुनर्निर्माण का इंधन है, जिसको नारायण गुरु ने भी अपनाया था।

दरअसल शब्दों की पूजिवादिता से सम्बन्ध बहुत गहरा है। जैसे 'धन्यता' शब्द देखें इससे बेहतर संतोषजनक शब्द मलयाली को और क्या हो सकता है। किन्तु इसका शाब्दिक अर्थ है 'धन होने की स्थिति' (धन धन्य भी हो सकता है), अर्थात धनार्जन से संतोष का अनुभव हम कर सकते है। उदहारण देखें, सफल का अर्थ है विजय तथा लाभ, यानि यह भी धन से सम्बंधित है। अगला शब्द है कृतज्ञता इसका शब्दार्थ है अर्थ यानि धन कृत होना यानि उपलब्ध होना। ये सब पूँजी का अनुभूति विशेष है। आज भी 'धन्य होने' से आत्मसुख का अनुभव हम करते है वह एकदम झूठ है। धन प्राप्ति से जो ख़ुशी होती है उससे बढकर कुछ नहीं है, यानि पूंजी के प्रति मनुष्य की लालसा पहले से ही थी। इसलिए एक हाथ में पान तो कभी उसी हाथ में मोबाइल फ़ोन के साथ चलने वाले ही साहित्य को भी आगे बढ़ाया। पान अपना मनोरंजन का काम करता था और मोबाइल फ़ोन उसका सम्बन्ध समाज से जोड़ने का प्रतीक है, अर्थात खुद एक नेटवर्क होने का प्रतीक। संरचना को सौंदर्यरूप देने का काम पूँजीवादी कला करती है। यह निपुणता को उपकरण बनाता है। कथकली में कला को नहीं व्याख्यान को महत्व देते है।

इस तरह विकसित साहित्य तथा सौन्दर्यबोध की अस्थायी सौन्दर्यत्मकता को हिलाने वाला सामजिक प्रक्रिया ही मलयालम साहित्य को नूतन बना रही है। सत्तर के दौर में राजनीतिक कविताओं ने एक ऐसे सिद्धांत को सामने रखा कि समस्याओं का उपाय वर्णन का सौन्दर्य नहीं बल्कि वर्ग राष्ट्रीयवाद है, यह साहित्य को नया आयाम दिया। फिर कुछ आधुनिकतावादियों की शैली में उसी भाषालीला ही रही। उन्होंने नए प्रमेय को तथा यथार्थ को सौन्दर्य ही माना। विभूषित वेशभूषा को त्यागकर नग्नशरीर को सौन्दर्य बनाया। उदाहरण के लिए- 'मैमूना की नीली नजों से वह उमड़ने लगा, लेकिन मक्खन जैसा उसका तन वैसा ही रहा', इस तरह स्त्री की समस्याएँ निगूढ़ बनने लगी, साहित्य में भी साधारण व्यापारी भी सुकरात कि भांति दार्शनिक का रूप लेने लगे, ये सब आधुनिकता का प्रमाण है, वास्तविकता को स्वीकारने में आधुनिकता तैयार नहीं थी। जाति की समस्या को उसने बिलकुल नज़र-अंदाज़ ही कर लिया।

'गौरी' जैसी कहानी कभी भी स्त्री की पारतंत्र्य की चर्चा नहीं कर पाई। 'वानप्रस्थ'[13] भी स्त्री पुरुष संबंधों की समस्या का कारण नहीं ढूंढ पाया, क्योंकि उसके पात्र आधुनिक युग के नवकाल्पनिक थे। मुख्य रूप से आधुनिकता की सौन्दर्य अवधारणा का आधार व्यक्ति केन्द्रित था। उस सौन्दर्य बोध की नज़र कभी साधारण जीवन की तरफ नहीं गयी। व्यक्ति को एक इकाई के रूप में लेकर उसको जटिल अस्तित्व बनाया गया।

'डेल्ही'[14] के अरवविन्दन 'आल्क्कूट्टम' के सुनील और जोसफ 'खसक्किंटे इतिहासं'[15] के रवि जैसे पात्र का अनुकरण करने के लिए यानि उसको स्वीकार करने के लिये केरल की जनता तैयार थी। वे धरती पर बिना कोई जड़ या सहारे के विहार कर सकते थे, यानि वे साधारण व्यक्ति से भी अधिक स्वतंत्र थे। वह तत्कालीन काल्पनिक व्यवस्था से परे था। जैसे कोरन नामक दलित

7.एक पुरानी मलयालम सिनेमा

[14] एम मुकुन्दन द्वारा रचित एक मलयालम रचना

[15] ओ.वी. विजयन द्वारा रचित उपन्यास

आदमी अपनी जाति को छोड़कर किसान बनकर जाति व्यवस्था से बचना चाहता है, वैसे आधुनिकता का मतलब हकीकत की दुनिया से एक साधारण व्यक्ति का काल्पनिक पलायन था। आधुनिकता का अलंकार मनोरंजक था, जैसे जाति जीवित रही वैसे ही पूंजीवाद भी जीवित रहा।

'मधाविक्कुट्टी' की स्वतंत्रता की बात कुछ और ही थी, उनकी आत्मकथा 'एँटे कथा' (my story) से लेकर सब रचनाओं ने मलयाली समाज के तत्कालीन पूंजीवादी कुलीनता को हिलाकर व्यक्तिकेन्द्रित आधुनिकता में उसकी पुनः सृष्टि की। एक स्त्री के हर भाव के सौन्दर्य को उन्होंने प्रस्तुत किया। स्त्री मरण शय्या में भी यह सोच रही है 'चूल्हे में दाल जल रही है,' यह विलाप आधुनिक यथार्थ का परिचय था। यह सिर्फ 'उस साधू स्त्री का प्यार' का नहीं था बल्कि मनुष्य की समस्याओं से बढ़कर समस्याओं के व्यक्तिगत सौन्दर्य ही अधुनिकता थी। शारीरिक अतिक्रमण करने वाले कीड़ों से अधिक नीच मनुष्य के सामजिक यथार्थ पर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। आधुनिकता व्यक्ति का प्रतिनिधान करने वाला समाज से भी बड़ा आदर्शवान प्रतिभास था। सामाजिक यथार्थ को व्यक्तियों के द्वारा सौन्दर्यात्मक बनाकर उसका विकास हुआ। जिस तरह उषा मक्वाना कविता के द्वारा आधुनिकता से बात करती है, वैसे किसी ने भी बात नहीं की है-

"प्रभो,राणियों के पुत्र के रूप में आपने कितनी बार जन्म लिया, अब एक बार एक साधारण स्त्री के गर्भ में जन्म लीजिये। आप बहुत बार सुदर्शनचक्र और धनुष लिए इस रास्ते से गुज़रे हैं, अब एक बार झाड़ू लेकर चले तो आप हमारे लिये सदा हरी बनकर रहेंगे। बस एक बार हरी के रूप में जन्म लेकर देखिये, प्रभो!।'' (मलयालम अनुवाद; शंमुखन पुल्पट्टा)

आधुनिकोत्तर आंचलिक साहित्य इन सभी से एक अलग दृष्टिकोण रखते है। मधविक्कुट्टी के साहित्य में स्त्री की समस्या एक वैयक्तिक रूप में आती है

तो ‘सारा जोसफ’ के सहित्य में प्रमेय मुख्य है, यानि स्त्री को एक सामाजिक व्यवस्था के हिस्सा बनाने की प्रक्रिया। उसने समस्याओं का सौन्दर्य नहीं बल्कि स्त्री में केवल सौन्दर्य देखने की प्रक्रिया को सामाजिक बनाने का प्रयत्न किया। आधुनिकता को शिथिल बनाने की प्रक्रिया ही इस साहित्य को बाकियों से भिन्न बनाती है। प्रमेय को वह एक उलझे हुए सामाजिक यथार्थ के रूप में प्रस्तुत करते है। यह समस्या व्यक्तिगत प्रतिसन्धि नहीं बल्कि सामाजिक व्यवस्था की विशेषता है।

नए ज़माने के साहित्य में देखते है, यदि कोई बड़ा आदमी नहीं है तो वह नायक भी नहीं है। कुछ आलोचक ऐसे है जो नए यथार्थ से बिलकुल परिचित नहीं है लेकिन यह सोचकर परेशान होते है कि, सी.वी. रामन पिल्लै की कहानी की तरह या कम से कम 'खसाक' की तरह कोई बड़ा पात्र हमें सी. अय्यप्पन की रचना में नहीं मिलेगा (जब कि अय्यप्पन के बारे में कोई नहीं कहते है!)। यथार्थ्य से बने बड़े किरदार नहीं, बल्कि यहाँ वास्तविकता ही कला है, यह वास्तविकता अलंकारों को फेंकने का प्रयास करती है। वह उस वास्तविकता को व्यक्त करते है, शरीर को नग्नता नहीं बल्कि स्वयं शरीर ही उपभोग की वस्तु है। वास्तविकता से जन्मे इन पात्रों का अनुकरण कोई नहीं करना चाहेगा, क्योंकि वे पात्र कभी वेश्या हो सकता है, गुनेहगार पुलिस या चोर हो सकता है, मेहतर या मजदूर हो सकता है। वे नायक या पात्र नहीं है, केवल यथार्थ साधारण मनुष्य है। वे अलंकारों के माध्यम से नहीं, सामाजिक व्यवस्था के आंसू एवं शस्त्र से बात करते हैं। केवल के.पी. केशव मेनोन और वी.के.कृष्ण मेनोन नहीं बल्कि 'एयिलांडी', 'अरित्तेयी' तथा 'कंडत्ती' (राघवन अत्तोली की कवितायेँ) जैसे लोग भी यहाँ थे। लोग अपनी ही भाषा में बात करते थे, उसमें न कोई मिलावट है, न मानक भाषा का असर है। यानि इस साहित्य का प्रमेय बड़ा इतिवृत्त नहीं बल्कि साधारण ज़िन्दगी है।

“लालटेन के इर्द गिर्द जलकर गिरी मक्खियाँ,

फूल सा प्रतीत हुआ” (गफूर करुवन्नूर)

उत्तराधुनिक युग में आत्मकथाएँ स्वयं की कहानी नहीं रही, सामाजिक व्यवस्था द्वारा दी गयी पीड़ा का निशान है। यानि व्यक्ति समाज में लीन हो गया।

आज शरीर का वर्णन कोई नहीं करता है, पात्र का आख्यान भी। “पाँच फुट आठ इंच लंबा, बाएँ आँख की तरफ एक तिल, लंबी नाक”, लोगों को समझ में आने लगा कि इन पुराने वर्णनों से कोई फायदा नहीं है, आज के लेखक जानते है कि साधारण जनता के सामने बातों को बढ़ा-चढाकर कहने की ज़रुरत नहीं है।

अधःकृत तथा दलित साहित्य ने वास्तव में साहित्य में ऐसा एक वातावरण उत्पन्न किया। दलितों ने खुद को एक तिरछे प्रतल में पहचाना, इसलिए वे सीधे रूप से सोच नहीं सकते थे, न वे नायक थे न नायिका। सारे इतिहास में हम देख सकते है, प्रभुत्व की सोपनबध व्यवस्था ने स्त्री और अधःकृतों पर राज किया। इसलिए दलित अपने जागरण के लिए इस व्यवस्था को स्वीकार नहीं करते हैं। उनकी उपेक्षा व्यक्तिगत रूप में नहीं थी जाति तथा लिंग के आधार पर थी। इसलिए केवल एक व्यक्ति के रूप में वह इस व्यवस्था से लड़ नहीं पायें।

जातीय संघर्ष को पार करके जैसे कोरन (रंडीदंगषी) किसान बना वैसे कभी भी कोई भारतीय अपने पहचान पर पर्दा नहीं डाल सकता है। ('कोचरेत्ति' में सरकारी नौकरी मिले अदिवासी का आत्मसंघर्ष बताया गया है) आज डोक्युमेंट्री के रूप में बनता है, इसलिए साहित्य और कला में अनेक आत्मकथाओं को डोक्युमेंट किया जा रहा है। इसलिए वी.के.श्रीरामन 'वेरीट्टा काषचकल' (अलग नज़रिया) एक नए साहित्य और कला का अनुभव देता है। साहित्य के पूर्व निर्धारित अवधारणाओं को उसने ऐसे तोड़ डाला जैसे

अय्य्मकाली के अपने समुदाय कयूपर्लागाये हुए अलंकारों को पत्थर की तरह फेंका।

आधुनिकता के भाषा-बोध को अपनाये बिना नया युग साहित्य में उभरकर नहीं आएगा। साहित्यकार समझने लगे कि भाषा में अब अलंकर का कोई अस्तित्व नहीं है, इसलिए ही विजयन का भी अस्तित्व खतरे (ख़ासक्किन्टे इतिहासं, उपन्यास- ओ.वी. विजयन) में ही रहा। फ्यूडल / सवर्ण आधुनिकता की रूचि बदलने लगी है, वह यहाँ तक मलयाली के गंध बोध को भी बदला है। एक उदहारण देखें-

"सदानंद काम्बले प्लेट में तला हुआ बकरे का मांस लेकर आया, उसकी गंध निशागंधी की सुगंध की तरह उस पूरे कमरे में फ़ैल गयी। "मांस की गंध यहाँ निशंगंधी बन गयी। नारियल तेल के गंध से परिचित मलयाली को गंध की नयी संरचना का भी परिचय होना आवश्यक है।

उत्तराधुनिकता में सब ऐसा नहीं है, मुख्यधारा में आदि से अंत तक आधुनिक वैयक्तिकता की सूक्ष्मता है। एक दृष्टि उनके लिए साहित्य बनता है, जैसे एक मछुवारे के माध्यम से वे समाज के सारे अनुभवों को ग्रहण करते हैं। वह अनुभव किसका है, इस प्रश्न का सही उत्तर वह साहित्य नहीं दे पायेगा, क्योंकि मूर्त व्यक्ति या समाज से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। कवि की कल्पना के साथ वह उत्पन्न है।

"ओह, गहराई

तुम्हारे कानों में

मछलियाँ नक्काशी कर रही है।"

यहाँ मछलियाँ भी एक अलंकार हैं, जो न किसी समाज या काल से सम्बन्ध रखता है। मछली का यहाँ न एक सामजिक यथार्थ का रूप है, न

जैविकता है, यह केवल एक नजरिया है, एक सौन्दर्य सृष्टि है। लेकिन यह सौन्दर्य सृष्टि नए युग की आवश्यकताओं का अभिसंबोधन नहीं करता है। वर्णन के सौन्दर्यत्मकता में यह कालिदास के हिरण, और   चेरुश्शेरी के बछड़ा से कोई अंतर नहीं है। समाज को हिलाने वाली कविता से मलयाली भाषा को और भी सीखने के लिए है।

(2007)

4. कला-परिणामों (परिवर्तनों) का समाजशास्त्र

जातिव्यवस्था निर्मित होने के बाद केरल में अनुष्ठान भी जातीय रूप लेने लगा, अर्थात केरल की अनुष्ठान कला जाति श्रेणी के साथ विकसित हुई है। गोत्र समाज में कला और अनुष्ठान एक ही था वहाँ मनुष्य के रीति-रिवाज़ तथा गतिविधियाँ अनुष्ठान की तरह विकसित हुई हैं। उनके अनुष्ठान में कालांश भी था। इस तरह अनुष्ठान कला के ऊपर भी जातीय अधिकार स्थापित हुआ। सिर्फ कला में नहीं बल्कि मजदूरी तथा व्यापर में भी यह अधिकार दिखाई देता है। किन्तु यह व्यवस्था धीरे धीरे अप्रत्यक्ष होती जा रही है। वास्तव में केरलीय का लक्ष्य मज़दूरों का सर्वाधिकार नहीं था बल्कि मजदूरी और व्यापर व्यवस्था को जाति व्यवस्था से बचाना था, यानि हर काम करने का अधिकार सबको हो। अनुष्ठान कलाओं को स्वतंत्र रूप धारण करने का अधिकार केरलीय वातावरण में होने के बावजूद उसको केवल अनुष्ठान कला के घेरे में समाज ने सीमित करने किया। यह केवल सामाजिकता तथा ऐतिहासिकता के विरुद्ध है। दक्षिण मालाबार के 'तिरा'[16] में हुए परिणामों को सामने रखकर इसका विश्लेषण कर सकते है।

अगर जातीयव्यवस्था का बल नहीं होता तो 'तेय्यम' 'तिरा' जैसी अनुष्ठान कलाओं का कोई अस्तित्व नहीं रहता। जातीयता के आधार पर ही उसका विकास हुआ है। 'तेय्यम' 'तिरा' के कलाकार 'मलयन' 'मन्नान' तथा 'मुन्नूटन'[17] जैसे जाति के होते है, ये न खेती करते है न कोई उत्पादक समूह है। ये उत्पादक समूह के आश्रित है। फिर भी ग्रामीण व्यवस्था में वे एक मुख्य तथा आत्मीय एवं भौतिक हिस्सा थे। प्रत्येक काल/ऋतू में प्रस्तुत करनेवाले 'तेय्यम' 'तिरा' जैसी कलाएँ जाति समूह में विकसित हुई हैं। जाति के नाम पर इन कलाओं को तथा कलाकारों को समाज में प्रत्येक स्थान

---

[16] केरल की एक अनुष्ठान कला

[17] केरल के कुछ दलीत जातियों का नाम

मिला है।

उपेक्षित वर्ग अपनी कलाओं को आजीविका का मार्ग बना नहीं पा रहा थे, इसलिए उस पर ना कोई शास्त्रीय अध्ययन और ना परीक्षण संभव नहीं था। जातीय जीवन तथा मौखिक अध्ययन ही इन कलाओं का एकमात्र अध्ययन की रीति थी। जब 'तेय्यम' 'तिरा' की अवधि समाप्त होती है तब आजीविका केलिए ये लोग मन्त्र तंत्र, छतरी का निर्माण आदि का सहारा लेते है। लेकिन अशास्त्रीय और लोक कला कहने के बाद भी इन कलाओं का अध्ययन सांप्रदायिक रूप से सिखाया जाता है। पारंपरिक रूप से कला का अर्जन करने के बाद भी निरंतर अभ्यास और अनुभवों से एक कलाकार इन अनुष्ठान कलाओं में दक्षता प्राप्त करते हैं।

एक ज़माने में 'तेय्यम' 'तिरा' के दैविक परिवेश आर्थिक उपलब्धि के लिए कलाकार की बहुत सहायता की थी। किन्तु धीरे धीरे कुछ सामाजिक परिवर्तनों के कारण यह परिवेश कम होने लगा उनकी आर्थिक स्थिति भी बिगड़ने लगी। इसलिए अन्य काम ढूँढने पर वे मजबूर हुए। आजीविका के लिए करते आ रहे मन्त्र-तंत्र तथा छतरी के निर्माण में भी उनको अधिक लाभ प्राप्त नहीं हुआ। बेरोजगारी की यह समस्या के कारण इन कलाओं को अनुष्ठान कला के रूप में जाति के अन्दर सीमित रख नहीं पाए। इनमें से कुछ ही लोग इन अनुष्ठान कलाओं का अभ्यास आजीविका के लिए करते है, अधिकतर कलाकार भविष्य के लिए अन्य मजदूरी भी करते है।

यह परिवर्तन अधिक रूप से 'तिरा' के क्षेत्र में दिखाई देते हैं। माहि से लेकर उत्तर की ओर कालिकट को 'तिरा' का केंद्र माना जाता है। अन्य की तुलना में आज 'तिरा' में अनुष्ठान का अंश बहुत कम दिखाई देता है, क्योंकि आज जातीय अनुष्ठान को व्यंग्य की दृष्टि से देखा जाता है। जातीय अनुष्ठान तथा जातिवाद का विरोध दोनों का एक साथ चलना असंभव है, इसलिए

कलाकार कालांश को अधिक महत्व देने में मजबूर हो जाते हैं। धीरे-धीरे जाति का पहचान से हटकर वे केवल कलाकार रह जाते है। यह परिवर्तन जातीय इतिहास में सबसे महत्वपूर्ण है। तात्पर्य यह हुआ कि कलाकार का यह आत्मबोध एक अनुष्ठान को कला के रूप में परिवर्तित कर देता है।

'कलाकार' का दायित्व और पहचान अलग है। एक कला और कलाकार को जाति-व्यवस्था में सीमित नहीं रहना चाहिए, कला एक ऐसी व्यवस्था में हो जिसकी प्रस्तुति किसी भी देश-काल में हो सकें। सामाजिक संबंधों में परिवर्तन के अनुसार जाति के अन्दर सीमित कला में भी परिवर्तन आता है। तत्कालीन समाज की मांग के अनुसार अनुष्ठान कला का रूप बदलकर उसको कुछ नियमों के अनुसार परिवर्तित करके अशास्त्रीय से शास्त्रीय बना देता है। हिन्दुस्तानी संगीत का खरना इसका एक उदाहरण है। एक ज़माने में यह एक परिवार की पारंपरिक कला थी बाद में संगीत के नए आयामों का कारण बनती है। शास्त्रीय रूप प्राप्त करने से एक अनुष्ठान केवल कला बन जाती है। 'शास्त्रीयता' से तात्पर्य केवल तकनीक के अर्थ में नहीं बल्कि तत्कालीन सामजिक सीमाओं को पार करने का अर्थ भी होता है। 'तेय्यम' 'तिरा' आदि को तकनीकी भाषा में परिवर्तित करने की ज़रूरत है ताकि वह अपने अस्तित्व को बनाये रख सके। एक व्यवहिरिक तत्व को उसके संयोग (texture) और सन्दर्भ (context) मिलकर फोल्क यानि लोक कला बनाता है, इनमें बदलाव आने से कला में भी परिवर्तन होता है। 'तेय्यम' 'तिरा' जब कावू[18] से अपनी जातीय सामुदायिक सीमाओं को लांधकर मंच पर आता है, तब कला और कलाकार के स्तर में भी परिवर्तन आता है।

आगे और भी परिवर्तन लाने की आवश्यकता है। एक कला का सामजिक बनाना सामान्य बात है। 'सामाजिकता' कला में अंतर्लीन तत्व नहीं है। इससे तात्पर्य है एक कला की लोकप्रियता। यह स्पष्ट बात है एक कला लोकप्रिय होने

[18] मंदिर जैसा स्थल जहाँ तेय्यम तिरा आदि मनाया जाता है

से उसमें बाज़ार का भी असर आने लगता है, साथ साथ कलाकार भी बाज़ार से प्रभावित हो जाता है तब कला का अस्वादन सिर्फ वैयक्तिक बन जाता है। वास्तव में एक लोकप्रिय कला जातीय पहचान को नकारता है। व्यक्तिनिष्टता को प्रबल तथा अन्य तत्वों को दुर्बल बनाकर ही एक कला का आगमन विश्व स्तर पर होता है। माइकल जैक्सन, बॉब मारली जैसे कलाकार इसी ऊर्जा के साथ विश्व को अपने कब्जे में किया गया। एक कला को व्यक्तिनिष्ठता में प्रवेश करने की ताकत होनी चाहिए। यह व्यक्तिनिष्ठता कभी 'नियम' या 'खराना' हो सकता है। इस तरह वह कालकाल का अतिजीवन करके आगे निकलती है। 'कथकली' इसका एक उदहारण है। कला की प्रस्तुति के ऊपर आज अनेक अध्ययन हो रहा है। लेकिन 'तेय्यम' 'तिरा' को एक अलग नज़र से देखा जाता है। इन कलाओं को जातीयता की सीमा में रखी गयी है। फोल्क्लोर अध्यन ने कई हद तह उनके कालांश को भी ढूढने का प्रयास किया है। व्यक्तिनिष्ठ अध्ययन के माध्यम से ही एक कला को कला का स्थान मिलता है। यह एक शैक्षिक प्रक्रिया है। इस अध्ययन से कला की जैविकता भी बाहर आती है। अनुष्ठान कलाओं परभी इस तरह के अध्ययन होना अनिवार्य है।

कला और जाति के बीच का संघर्ष स्पष्ट नज़र आता है। एक ज़माना ऐसा था पिछड़े जाती के लोग ज़मीन में गड्ढा बनाकर खाना उसमें खाया करते थे। आज मानसिक रूप से उस स्थिति से मुक्त हो गए है। सामाजिकता और अनुष्ठान का एक साथ चलना मुमकिन नहीं है। इसलिए भविष्य में लोकतांत्रिक समाज में अनुष्ठानों का अस्तित्व कला के रूप में ही होगा। सिर्फ कलाकार नहीं आस्वादक भी इस संघर्ष में घेरे हुए है। कुछ आस्वादक अनुष्ठान कलाओं आचार में रूचि नहीं रखते है। इसलिए आस्वादन के समय इस आत्मसंघर्ष से वे गुज़रते है। इस संघर्ष के साथ दो समस्याएँ जुडी हुई है -

1. जब अनुष्ठानों का कला के रूप में विकास होता है तब 'कावू' का स्थान और महत्व क्या है?

2. एक कला के रूप में अनुष्ठानों की प्रासंगिकता क्या है?

प्रगतिशील समाज 'तिरा' को केवल कला के रूप में ही देखते है। समाज में 'तिरा' जैसे अनुष्ठान को दैवीक स्थान होने पर भी उसकी प्रस्तुति करने वाले कलाकार को कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं है। आज उस कलारूप को जो भी स्थान मिला है वह केवल जाति विरुद्ध आन्दोलनों का परिणाम है। उसमें दैविक अंश चाहे कुछ ही समय के लिए हो लेकिन वे वन्दनीय ज़रूर है। लेकिन एक दलित के शरीर को हमेशा अछूत मानकर उपेक्षित करके केवल उस दैवीक अंश को स्वीकारा, यह सिर्फ सवर्णत्व का छल है। ऐसा भी कहा जाता है 'तेय्यम' 'तिरा' के दैवीक अंश सवर्णों से बनाया गया मिथक है। लेकिन यह देव-देवता का स्थान सवर्ण देवी देवताओं से नीचे ही रहा है। इसलिए वे कहीं न कहीं समाज के मुख्यधारा में आने के लिए जातीय अनुष्ठान में सीमित अपनी कलाओं का अनुष्ठान परिवेश को उपेक्षित करना चाहते है। इन प्रयासों से ये कलाएँ परंपरा के गुणात्मकता का अतिजीवन करती है।

'तिरा' दृश्य भंगिमा, ताल, नृत्य आदि का अनन्य समन्वय है। इसका ताल विशिष्ट एवं संपन्न है। तेय्यम और तिरा संगीत तथा प्रकृति का वर्ण आदि का अपूर्व सुन्दर मिलन है। यह नृत्य रूप का सौन्दर्य शरीर का ताल और लय के समन्वय से और भी बढ़ जाता है। तेय्यम और तिरा को प्रकृति से जुड़ी हुई कला की दृष्टि के साथ उसकी कलात्मकता को स्वीकार करता है, तथा उसकी जटिलता को नकारता है।

आज ये कलारूप केरलीय सांस्कृतिक मूलधन बनकर राज्य का प्रधिनिधित्व करते हैं। नाटक सिनेमा आदि में भी तिरा का आज प्रत्येक प्रभाव पड़ा हैं। इस वजह से इसको ज़्यादातर लोग कला की दृष्टि से देखते है साथ-साथ युवा पीढ़ी भी इसकी ओर आकर्षित हुई है। कुछ वर्ग ऐसे है जो इस कलारूप को कावू की सीमा से बाहर लेकर जाने के विरोध में है, किन्तु यह वाद

केवल एक सामाजिक तथा ऐतिहासिकता के विरुद्ध तर्क है। इतिहास में कोई भी कला ऐसी नहीं है जो वर्त्तमान में भी ऐसे ही जीवित हो जैसे उसका उदभव हुआ था, कला का निरंतर परिणाम होता रहता है, खासकर लोक-कलाएँ। लोक कलाओं की एक और विशेषता है इसका अनिश्चितत्व होना। उदाहरण के लिए तेय्यम तिरा में प्रयुक्त चित्र तथा शिल्प आदी उपयोग के बाद छोड़ दिया जाता है। विजय कुमार मेनोन का कहना है कि घंटों से खींचे जाने वाले चित्र बाद में मिटाए जाए हैं, यानि उन चित्रों का अनन्यता ही उसका सौन्दर्य सिद्धांत है (फोल्क कलाओं का लावण्य अवधारणा 'पोली' 2.2002)। इन श्रमिक कालों को केवल अनुष्ठान के नाम पर मंदिर की तथा जाति की सीमा के अन्दर सीमित करना विकास के विरूद्ध है। यह सत्य है कि इन अनुष्ठान कालाओं का मूल मंदिर तथा 'कावू' में है, किन्तु उस बात को नज़रअंदाज़ किये बिना तथा सामाजिक-सांस्कृतिक मुश्किलों की दृष्टि में रखकर इसका विकास होना चाहिए। 'कला का विकास = आचार अनुष्ठानों का विकास = जातीयता का पुनरुत्पादन 'यह समीकरण आपस में ठीक नहीं बैठता। और एक मुख्य बात है इनके प्रस्तुतीकरण के समय में होने वाले उतार-चढ़ाव। आज ये अनुष्ठान कला होते हुए भी दर्शकों एवं मंदिर के संचालकों के हिसाब से इसकी प्रस्तुति का समय-सीमा को निश्चित किया जाता है, वास्तव में यह अनुष्ठान शिथिलीकरण का कारण बन जाता है।

तेय्यम और तिरा मंदिर के बाहर एक अनुष्ठान से हटकर कहीं केवल एक दिखावे का रूप धारण कर लेता है। इससे बचने का एक ही उपाय है, इन कालाओं को सीमाओं के बाहर लाकर स्वीकृत करना। '*कूत*, *कूड़ीयाटम*, *कथकली*' आदि कई हद तक उसकी जातीयता से बाहर निकलकर कलात्मकता को बढ़ावा दिया है। कला की शास्त्रीयता, उसका अध्ययन मंडल, उस पर होने वाली चर्चाएँ, अकादमिक कार्यक्रम, धर्म के प्रति उसका दृष्टिकोण आदि कलात्मकता के तत्व माने जाते हैं।

आजकल इन अनुष्ठानों में होने वाले नए बदलाव सवर्ण संस्कृति को नया रूप देते हैं। लोकप्रिय कलाओं में भी सवर्ण संस्कृति की छाप छोड़ने का प्रयास दिखाई देता है। 'कावु' मंदिर के रूप में बदलने लगते है। आज साधारण जनता के घर में होने वाले धार्मिक कार्यक्रमों में भी ब्राह्मणों की उपस्थिति अनिवार्य बनने लगी है। यह एक नए ब्राह्मणवाद का मार्ग बन रहा है। कहीं-कहीं इन अनुष्ठान कलाओं की मौलिकता पर भी सवाल उठ रहे हैं। ये तमाम परिवर्तन तेय्यम और तिरा जैसे कलाओं के विकास में बाधा बन रहे हैं।

एक कथकली कलाकार कला प्रस्तुति के उपरांत अपना इनाम लेता है किन्तु तिरा के उपरान्त कलाकार को मिलने वाले प्रतिफल को इनाम नहीं बल्कि उन पर करने वाली दया या कृपा माना जाता है। यानि उसको केवल तुच्छ स्थान दिया जाता था। किन्तु कलाकार होने का बोध उनमें जीवित था, यही बोध कला का मूल्य बनाये रखने में उसकी मदद करता रहा। जातीयता का सामाजिक अति-जीवन ही कला के विकास का कारण बनता है। एक कला इतनी स्वतंत्र होनी चाहिए कि उसका अध्ययन सब कर सकें। एक व्यक्ति को परंपरागत रूप से मिलाने वाली ऊर्जा कलात्मकता का ही है। अनुष्ठान को शुद्धता के अंतर्गत रखना इतिहास की दृष्टि में ग़लत है।

दो

'कथकली'[19], 'मेलम', 'तायम्बका' इसमें 'चेंडा'[20] के ताल का विशेष स्थान नहीं है, लेकिन 'तेय्यम' 'तिरा' में चेंड़ा का महत्वपूर्ण स्थान है। कला एवं साहित्य आलोचाकों ने इसकी उपेक्षा हमेशा की है। दलित कलारूपों की उपेक्षा करने के पीछे केरलीय की कुछ संकुचित मानसिकता है, एक; तेय्यम का जो

---

[19] केरल की एक मुख्य कला का नाम, इसकी प्रस्तुति करने का अधिकार पहले सिर्फ सवर्ण जाति को था

[20] केरल के मख्य संगीत उपकरण का नाम

ताल है इसका अभ्यास शास्त्रीय रूप से आरम्भ में नहीं किया जाता है, बल्कि मौखिक रूप से इसको पहले सिखाया जाता है। दूसरा: इसको ठीक रूप से नियमबद्ध न करने की तकनीकी समस्या। तीसरा; मालाबार के तत्कालीन कलारूपों के बारें में ज्ञान न होने की अवस्था। चौथा कारण है तेय्यम कलारूप का जीवित होने पर भी कालाकारों में आर्थिक गरीबी होने की स्थिति।

'तेय्यम', 'तिरा' से संबंधित एक भी ग्रन्थ में 'चेंड़ा' नामक एक वाद्य का उल्लेख कहीं नहीं हुआ है। 'केरल कलामंडल' में अभी तक कोई प्रद्यायापक या संकाय इसके लिए नहीं है। सवर्णधारा की हमेशा यह अवधारणा थी कि चेंड़ा का अध्ययन शास्त्रीय नहीं है तथा इसका कोई नियम नहीं है, इस अवधारणा के अनुसार हमेशा केरलीय समाज आज भी इसको स्वीकारने में तैयार नहीं हुए। अकादमिक विभाग ने जिस 'क्लासिक' तथा 'फोल्क' कलारूपों का वर्गीकरण किया है उसका पुनःपरीक्षण अवश्य होना चाहिए।

'तेय्यम तिरा' तथा उसके वाद्य की ताल कलाकार की परंपरा के अनुसार अनौपचारिक रूप से सीखता है, लेकिन इसका अध्यन आसन भी नहीं है। उसको शास्त्रीय बनाने का काम कलाकार का नही बल्कि संस्थाओं का है। कुछ व्यक्तियों का प्रयत्न इसमें रहा है किन्तु वह इतना खास भी नहीं रहा।

'नाडोडी दृश्यकला सूचिका' (लोक दृश्य कला सूचिका, (केरला संगीत नाटक अकादमी प्रकाशन) नामक किताब में मशहूर 17 तेय्यम कलाकारों के नाम दिये हुए हैं। 'कलियाटम' नामक दूसरी किताब एक और सूची दी हुई है। इन कलाकारों के नृत्य प्रस्तुति में देश विशेष का अंतर दिखाई देता है। 'कुंजबूटी पेरुमलयन', 'तिरुवल्लूर रामन पणिक्कर', 'कन्नन पेरुवण्णान' आदि कलाकारों ने काल विशेष के अनुसार अपनी छाप छोड़ी है। 'पम्बिरिक्कुन्न कुंजिरामन पणिक्कर', 'एशियाड कुंजिरामन' आदि वर्तमान कलाकरों में प्रमुख हैं।

'तेय्यम तिरा' विभिन्न तालरूपों से सम्पन्न है। कलाकार की मानसिकता

के अनुसार उसमें पतिवर्तन भी आते हैं। 'तिरा' और 'तिरामेलम' एक दूसरे का परिपूरक हैं। 'वेलय्क्काडूका' नामक अनुष्ठान ताल तथा संगीत से समपन्न है। 'चेंड़ा', 'कुरुंकूषल', 'इलात्तालम' आदि के ताल से यह समपन्न है।

एक 'तिरा' विभिन्न ताल और उसके अनेक रूपों से संपन्न है। 'गुलिकन तिरा'[21] में एकताल, चंपा, त्रिपुट आदि तालों का प्रयोग होता है। तिरा में एक साथ जटिल तथा सरल तालों (Rhythem Pattern) को बनाये रखते है। कुछ फिल्मों के गानों में भी इन ताल रूपों का प्रयोग हुआ है। कुछ चेंड़ा कलाकार भी इन ताल रूपों की जुगलबंदी का प्रयोग करते है। 'पंचारी'[22], 'अड़न्त', 'चेंपटा' आदि तालों को छोड़कर 'तेय्यम तिरा' के तालरूप भिन्न है। लेकिन इन तालों के बारे में जिसको जानकारी नहीं है उसे सभी ताल एक जैसे लग सकती हैं। कलाकार की इच्छा के अनुसार ताल बढ़ती है तथा घटती है। नियमों की शुद्धता से ज्यादा जुगलबंदी के मनोरंजन तथा कलाकार की प्रतिभा को 'तेय्यम तिरा' में महत्व देते हैं। आजकल तकिल[23] का भी प्रयोग इन जुगलबंदियों को और मनोरंजक बना दिया है।

तेय्यम तिरा के इस ताल में 'कुरुन्गुषल'[24] के संगीत का भी महत्वपूर्ण स्थान है। वास्तव में इसका सुर आदि शेहनाई से मिलने पर भी इसको एक वाद्य उपकरण का दर्जा नहीं मिला है। कुरुंगुषल का प्रयोग तेय्यम के ताल को और संगीतात्मक बनाता है। इन दोनों का संगीत एक साथ एक नयी लय उत्पन्न करती है। तेय्यम के अवतरण के समय सबसे अधिक स्थल का उपयोग करते हैं, इसलिए ही थियेटर कलाकारों के लिए यह कलारूप सबसे अधिक मायने रखती है।

---

[21] केरल का एक अनुष्ठान कला का नाम, जो तेय्यम के अंतर्गत आता है

[22] एक ताल का नाम (name of a rythem pattern)

[23] एक संगीत उपकरण का नाम

[24] केरल के अनुष्ठान कलाओं पमें बजाने वाला एक संगीत उपकरण, जिसका रूप और सुर शहनाई जैसा है

'तोटम पाट्टू'[25] का ताल भी बड़ा मनोरंजक है, इसका ताल् तेय्यम के भाव के अनुसार होता है। इसके ताल जटिल होते हुए भी अस्वादन योग्य है। दर्शकों की संवेदना को वह आकर्षित करता है। तोटम के संगीत में 'तोडी, मोहनं, भैरवी, मध्यमावती' आदि रगों की छाया द्रष्टव्य है। इस तरह ताल संगीत आदि का एक बृहत् रूप उत्तर मलबार में व्यापक रूप में दर्शनीय है।

शास्त्रीय रूप से इन कलारूपों का अध्यन और गवेषण करना अत्यंत आवश्यक है, नहीं तो ये सिर्फ जातीय कला के रूप में सीमित हो जायेंगे, कालांतर में ये कलाएँ अप्रत्यक्ष भी हो सकता है। आज भी इन कलाओं को अपनाने के लिए केरलीय तैयार नहीं है, वह सवर्ण कलाओं के पीछे है। फिर यह किसका केरल है?

(2005)

[25] तेय्यम और तिरा के आरम्भ होने से पहले गाने वाला गाना, इसकी भाषा में मलयालम तमिल संस्कृत आदि का मिश्रण होता है

5. साहित्य इतिहास हम से क्या कह रहा था

इतिहास नीति से नहीं बल्कि अधिकार से सम्बन्ध रखता है। और इस अधिकार का सबंध नियम से है। इतिहास रचना सिर्फ भूतकाल को दिखने का माध्यम नहीं है। सामाजिक अधिकार अपने अनुसार लिखित तथा अलिखित कुछ नियमों का निर्माण करता है, इस नियम के अनुसार बाह्य सौन्दर्य को उत्पन्न करने वाले अपभ्रंश तथा अपकृष्ट तत्वों का भी निर्माण होता है। संस्कृत-प्राकृत, पंडित-गंवार, क्लासिक-फोल्क आदि शब्द हाशिएकरण की प्रक्रिया का भाग है। मनुष्य को वर्णाश्रम के आधार पर विभाजित करने के उपरांत वर्णाश्रम के बाहर के लोगों को देखकर सवर्ण पूछने लगे ये मनुष्य कौन हैं? यह मनुष्य निर्मित सौंदर्य अवधारणा में कितना सत्य है? प्राकृत में किसी वस्तु का प्रत्येक अधिकार या सोपानबद्ध क्रम नहीं है। सिर्फ मनुष्य निर्मित अधिकार के व्याख्यान से ही ब्राह्मण, ब्राह्मण और धरती का अधिकारी भी। फूको कहते है- इतिहास निर्माण का यह इरादा केवल अधिकार के प्रति गुप्त तृष्णा है। और इसी अधिकार के अनुसार साहित्य में अस्वादन जैसी व्यवस्थायें बनायी गयीं हैं। इन व्यवस्थाओं के अनुसार रचनाओं के स्थान और स्तर का निर्णय भी होता है। अर्थात साहित्य का निरूपण करना साधारण जनता के लिए असंभव बना रहता है।

साहित्य एक प्रश्न व्यवस्था है। उसकी केवल व्याख्या की जा सकती है, लेकिन किसी भी साहित्य को एक प्रत्येक परिभाषा के अंतर्गत सीमित रखना असंभव है। इतिहास-काल आदि की व्याख्या द्वारा एक कृति कालजयी बनती है। लेकिन कहीं-न-कहीं इतिहास सहित्य के एकार्थ पर ध्यान देकर उसको एक ही काल के अन्दर प्रतिष्ठित करता है। इस प्रक्रिया से साहित्य और उसका अर्थ सीमित हो जाता है। इतिहास क्रमिक और अनुस्यूत-काल की अवधारणा के द्वारा पाठ के विस्तार को नकारता है। 18 वीं या 19 वीं सदी में रचित एक

कृति का परम अर्थ उस समय निर्धारित अर्थ नहीं होगा, जब समय तथा काल के अनुसार अर्थ की सम्भावना विकसित होती रहती है। आज भी गीता का पाठ होने का कारण उसके अर्थ की अनंतता ही है। एक रचनाकार के निर्णयों के बाहर काल और समय से परे एक कृति की पुनःव्याख्या संभव है। क्योंकि काल का मानदंड कृति नहीं करती है। इस तरह एक कृति के ऊपर इतिहास का काल निर्णय असंभव हो जाता है। फोर्मलिस्ट का मनना है कि कृति का अध्ययन रचनाकार के समय पर आश्रित नहीं है।

वास्तव में एक कृति की सृष्टि के सौ साल बाद ही शायद उसकी चर्चा हो सकती है। उमर ख़्ययाम की 'रुबायत' मलयालम में पोत्तेरी कुंजबू की 'सरस्वती विजयं' आदि इसका उदहारण है। इतिहास में काल शुद्धता का प्रतीक नहीं है। जब हम एक रचना को आदर्शों के घेरे से बाहर लौटते हैं तो क्रोचे का अभिप्राय इस सन्दर्भ में प्रासंगिक है "कोई भी रचना किसी के बराबर नहीं है, उसको वर्गीकरण तथा तादात्म्यता में सीमित करना संभव नहीं है। किन्तु साहित्योतिहास इससे भिन्न है। उसकी सृष्टि कुछ व्यवहारिकता के लिए तथा कुछ लोगों की इच्छा के अनुसार होती है (David Perkins - Is Literary History possible?)"

काल और समय के अलावा चित्रकला के कुछ रीतिशास्त्र भी हाशिये पर रहने वाली जनता तथा कला का विपरीत बन जाते हैं। एक कृति कभी इतिहास नहीं बनती, किसी आशय के मूल्यबोध की दृष्टिपद्धति ही इतिहास है। मलयालम साहित्य में मुख्यधारा सौंदर्य अवधारणा के अनुसार साहित्य का वर्गीकरण हुआ। 'पाणन पाट्टू, परयन पाट्टु, पुलायन पाट्टु, माप्पिला पाट्टु, वेडन पाट्टु' आदि साहित्य के अंतर्गत होते हुए भी जाति के नाम से उपेक्षित को साहित्य की कोटि में रखा गया है। इस तरह का वर्गीकरण साहित्य की सार्वजनिकता को नकारता है। इस तरह दलित-कला एवं साहित्य को जाति का नाम देकर सवर्ण साहित्य ने मुख्यधारा में स्वयं को प्रतिष्ठित किया है। तब

कुछ कलाओं का जातीय वर्गीकरण कैसे लोकतांत्रिक होगा। मुख्यधारा की कलाएँ जातीय होने के बावजूद उसको किसी जाति का उपनाम या लेबल नहीं दिया जाता है। लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि कथकली, कूड़ीयाटम जैसे सवर्ण कलारूपों में दलित कलाकारों की संख्या कितनी है? तथा उनके जीवन से ये कलाएँ कितने निकट हैं। इस तरह समाज ने दलित और उनके जीवन को समाज से अलग कर दिया, जो भी चीज दलित की नहीं है वह सार्वजनिक हो गयी। केरलीय जनता की आबादी का सिर्फ 8 प्रतिशत वाले सवर्ण सौन्दर्य-बोध केरल के इतिहास और संस्कृति कैसे बना सकते हैं? तब सार्वजनिक कला और संस्कृति से तात्पर्य क्या है? उल्लूर[26] के 'साहित्य चरितं' में कहा गया है 17 वीं, 18 वीं, 19 वीं शती में साहित्योतिहास की योग्यता की सूची में 'धीवरन, कनियान'[27] आदि जाति हैं (अवलंब : एन.वी.पी. उनित्तिरी, 'केरलीय साहित्यावुम मतनिरपेक्षतयुम') आबादी के सिन्हभाग से आने वाली दलित जनता की बौधिकता का अपहरण किसने किया। अलग होने वाली जनता तथा इनके योगदान को अनदेखा करना लोकतंत्र के विरूद्ध होगा। जो व्यक्ति इसको जातीयता मान रहा है तो यह महज़ साहित्योतिहास के ये प्रति उनकी अज्ञानता है।

वास्तव में साहित्योतिहास जाति के बारे में चिंतित थे। उल्लूर के 'साहित्य चरित्रं' ये बात स्पष्ट नज़र आती है, जिस कृति मलयालम साहित्य का सबसे महत्वपूर्ण साहित्य इतिहास माना गया है। साहित्य इततिहासों का मानना है कि जाती केरलीय का इतिहास है। अगर साहित्येतिहास धर्म से मुक्त है तो कृति के पाठ में जाति कैसे मानदंड बनता है? क्यों इतिहास मलयालम के 'रामायण' के रचनाकार एषुत्तच्चन की जाति के बारे में चिंतित है?

[26] मलयालम के प्रसिद्ध कवि

[27] केरल की दो जातिओं का नाम

वास्तव में जाति, धर्म, देश तथा राजनीतिक दल आदि जन्करिओं के खनन के अलावा साहित्येतिहास का योगदान क्या है? और जब बात दलितों पर आती है तो वह केवल निंदा सूचक तथा विरोधाभास क्यों बनता है।

पंडित के पी कुरुप्प के बारे में उल्लूर लिखते है: “सामान्य रूप से उनकी शैली उज्जवल है। उनके एक एक कविता में वासना के कवी दिखाई देता है” (केरल साहित्य चरिरत्रम 1990, 697)। लेकिन लीलावती जी का अभिप्राय कुछ और था, “करुप्पन का कवी के स्तर पर कोई महत्व नहीं है, वह केवल दस बीस किताबों के लेखक है” इस तरह करूप्पन को नीचा दिखने की कोशिश की गयी (मलयाल कविता साहित्य चरित्रं:1996,162)। लीलावती साहित्य के बारे में फिर से कह रही है “साहित्य का इतिहास केवल पुस्तकों के नाम की सूची नहीं है बल्कि समाज औरसाहित्य के सम्बन्ध की व्याख्या है” (मलयाल कविता साहित्य चरित्रं:1996,8)। किन्तु वास्तविकता यह है कि करुप्पन की तरह कविता को अनैतिकता के खिलाफ शस्त्र बनाने वाला और कोई कवी नहीं है (यहाँ तक स्वदेशाभिमानी रामकृष्ण पिल्लै ने इनकी कविताओं को मछली जैसे बद्बूदर कहकर नीचा दिखाया था)। जब ब्राह्मण की मानसिक जीर्णता और अतृप्ति को ‘मनिप्रवालम’[28] ग्रन्थ के द्वारा दर्शाया गया तथा उसका इतिहासकारों ने बड़े चाव के साथ उल्लेख किया तब से साहित्योतिहास का मुख अपवित्र बनने लगा। यह साथ-साथ इसका भी बोध कराता है कि सौन्दर्य केवल कृत्रिम है।

चित्रकला एक तरह की मार्केटिंग है। और भारतीय साहित्य में सवर्णों के बाज़ार ने दलितों की योग्यता का फैसला किया। साहित्येतिहास केवल उसकी एक रूपरेखा है। केरलीय साहित्य और उसका इतिहास केवल सवर्ण बाज़ार का उत्पादन है। वहां सामाजिक अति-जीवन और उसके सौन्दर्य का कोई महत्व नहीं है।

[28] मलयालम का पहला स्वतंत्र ग्रन्थ

साहित्योतिहास की लोकतांत्रिकता से तात्पर्य सत्य का निर्माण नहीं बल्कि चित्रकला की अलग अलग पहलु की स्वीकृति है। प्रश्न यह नहीं है कि गोविंद पिल्लै, उल्लूर तथा परमेश्वरन नायर जैसे कवियों में कितनी सच्चाई है, प्रश्न यह है कि साहित्य में एक-एक व्यक्ति और जनता के व्यक्तित्व के निर्माण में कितनी स्वतंत्रता है। इसलिए दलितों का साहित्येतिहास सवार्नानुभूतियों के प्रभुत्व का उल्लंघन है।

'द ब्लैक कल्चर इंडस्ट्री' नामक रचना में एलिस कैश्मोर (Ellis Cashmore) लिखते है - "ओलिम्पिक चैम्पियन एक काला है तो गोरे के लिए वह केवल एक चमार की भांति विदूशक मात्र है, जो तेज़ भाग सकता है।" इसलिए दलितों को अपना इतिहास स्वयं लिखना पड़ता है।

(2002)

6. दलित संकृति और सार्वभौमिक समाज

Every human problem must be considered from the stand point of time. (Black skin, with marks)

कुछ ऐतिहासिक कारणों से जो जनता हाशिये पर रह जाती है, उसको अपनी परंपरा के पहरेदार बनने की कोई आवश्यकता नहीं है। जब दुनिया सामंतवाद से पूँजीवाद तथा भूमंडलीकरण में बदल रही है, तो क्यों सिर्फ दलित ही आज भी अविकसित रहे। एक आदिवासी के हाथ में मोबाइल फोन देखने से हमें कितना अजीब लगता है। नियम और नीति बदल रहा है, फिर इन लोगों की ज़िन्दगी में कोई परिवर्तन क्यों नहीं? बाज़ार या मूलधन का नहीं बल्कि संस्कृति का भूमंडलीकरण दलितों पर हुआ है। संस्कृति का ऐसा उपनिवेश हुआ कि उनको स्वयं अपनी ज़िन्दगी अपरिष्कृत महसूस होने लगी। उनकी पहचान निष्प्रभ होने लगी। उनकी कलाएँ फोल्क के नाम से घोषित की गयी, उनके मौखिक साहित्य को मानक नहीं माना गया, तथा अशास्त्रीय बन गया। यहाँ तक उनकी संस्कृति भी सवर्णों से डरी हुई है। अगर भूमंडलीकरण का सबसे बड़ा तत्व आशयों को अप्रासंगिक बनाने वाली एकपक्षीयता है तो यह बात स्पष्ट है कि दलितों के योगदानों का सवर्ण संस्कृति के उपनिवेश के द्वारा जड़ से नाश किया गया है। यानि केरल ने सवर्ण ध्रुव का स्वीकार किया। मूलधन, बाज़ार, तथा मानव संसाधन का कोई स्वतंत्र विकास दलितों में नहीं हुआ।

सामजिक स्थिति उनकी ऐसी ही थी। सत्ता या अधिकार के क्षेत्र में ये नहीं थे। खेती करने वाला या कोई मामूली मजदूर सरकार के अधोलोक के कार्य आदि में इनको शामिल नहीं करते है, या फिर पारंपरिक कार्यों में भी। नौकरी भी उनको कहीं-कहीं दलित होने के नाम पर देकर झूठी उदारता दिलाते हैं, इससे इनकी क्षमता को भी नज़रअंदाज़ किया जाता है। केवल सार्वजनिक क्षेत्र ही देश की सुख सुविधा के संकल्प में आश्रित हैं, वहाँ दरिद्र दलित कैसे

उदारवान बन सकता है। दलितों के बौद्धिक तथा संस्कृतिक सम्पत्ति को जब तक समाज या बाज़ार स्वीकार नहीं करेगा तब तक मूलधन का विकास भी नहीं होगा। समाज में केवल सवर्ण रुचि और सौन्दर्य की बिक्री होती है।

केरलीय संस्कृति को और गहराई से समझने के लिए कुछ महत्वपूर्ण तत्व है। सवर्ण-दलित तथा अधिकृत संस्कृति को अलग करने वाली रेखा क्या थी? जातीय अस्पृश्यता होने पर भी मजदूरी की दृष्टि से ये लोग सम्बंधित थे। जाति की कोई कॉलोनी नहीं थी। दरअसल एक ही जाति के अलग-अलग ध्रुवों से अलग आदर्शों का निर्माण हुआ। दलितों के बीच में भी जातिवाद था, वास्तव में एक ही नियम के आधार पर अलग-अलग जातिवाद का निर्माण हुआ है। सिर्फ इस नियम का प्रयोग अलग तरीके से होता है। आज जो अधीनस्थ (subaltern) की अवधारणा है वह बाद में रूपायित हुई है। केरल में 'चेरुमार' जाति को दलित नहीं 'अडियालर' कहते है (मालाबार मैन्युअल)। हर जाति एक ही प्राकृत व्यवस्था की शिकार थी। ब्राह्मणों में भी परिवर्तन के आन्दोलन का आरम्भ इस तरह हुआ है। जाति के आदर्शीकरण से नए संसार का निर्माण दलितों के लिए असंभव है। जाति-विरोध के बोध से 'दलित' की अवधारणा का जन्म होता है, इनका ज्ञान व्यवहारिकता से सम्बंधित है। दलित तथा सवर्ण दोनों का ज्ञान सामंत युग का परिणाम है, यह भूमंडलीकरण का बदला नहीं है। लेकिन पूँजीवादी अवधारणाओं के बदले में अलग एक बोध का ग्रहण दलित ज़िन्दगी भर झेला करते हैं। वह बोध सवर्ण प्रत्ययशास्त्र से अलग सामाजिक नीति से, तथा श्रम और प्रकृति से सम्बंधित है। वह भौतिकता में निहित आत्मीयता है। वह बोध गरीब को नहीं गरीबी हटाने का प्रयत्न करता है। दलित के लिए विकास से तात्पर्य सदियों से हो रहे धरती और मनुष्य के श्रम का परिणाम है। भूखे पेट से उसने जो बोया है वही संसार का अन्न बना है। उसके पेयजल से हमने बिजली बनाई है (अरुंधती रॉय के अनुसार)। व्यंगय के रूप

एक प्रकृति चिकित्सक ने कहा है “एक मार्क्सवादी भी एक दिन में 4 बार खाता है, फिर यहाँ सामाजिकता कैसे संभव होगी?”

वैयक्तीकरण और दलित

वैयक्तीकरण के प्रभाव से खेती में तथा अन्य उत्पादन क्षेत्रों में बहुत मुश्किलें दलितों के लिए हुई हैं। आरक्षण की मदद से जिस तरह सरकारी नौकरियों में दलितों की भर्ती होती है उस तरह गैर-सरकारी क्षेत्र में नहीं। रिश्वत देने के पैसे तथा किसी राजनीतिक दल की सिफारिश ये दोनों दलितों के बस की बात नहीं है। इन दोनों के बिना कोई भी गैर-सरकारी नौकरी पाना दलित के लिए मुमकिन नहीं है। और दया पर मिलने वाली तनख्वा से उसका आत्म-सम्मान कितना बढेगा? आरक्षण, गैर सरकारी क्षेत्र तथा राजनीतिक व्यवस्था का आधुनिकीकरण अब अनिवार्य बन गया है।

किसी भी जनता का इतिहास तभी निर्णायक बनता है जब वह समय की चुनौतियों का सामना करने के लिए तैयार होता है। समय की मुश्किल स्थितियों से रक्षा के लिए पुराने सामंतवाद या फोल्क्लोरिस्ट मिथ्या में कोई उपाय नहीं है। अतिजीवन के लिए नई दिशा से चलने की आवश्यकता है, इस के लिए वैज्ञानिक उपलब्धियों को सामाजिक नैतिकता से जोड़ना चाहिए। एक ऐसे समाज का निर्माण हो जहाँ दलित अपनी संस्कृति को दुनिया के सामने आत्माभिमान के साथ प्रदर्शित कर सके। तभी लोकतंत्र अपने नैतिक मूल्यों के निर्माण में सफल होगा। सियातिन गोत्र नेता का कथन यहाँ महत्वपूर्ण है ‘धरती किसी की अपनी नहीं, बल्कि सबकी है’।

(2002)

7. सौन्दर्यशास्त्र में वर्णाश्रम

ज्ञान केवल नित्य सत्य है, इस दर्शन में भारतीय सिद्धात आधरित है। एक साधारण व्यक्ति के लिए अज्ञानता में संसार प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। ज्ञान मानव के व्यवहार से रूपायित नहीं है, वह वेद है। स्वामी विवेकानंद लिखते है :

एक ईसाई पुरोहित ने एक बार मुझसे कहा 'हमारे धार्मिक ग्रंथ सत्य है क्योंकि उसका एक ऐतिहासिक स्वाभाव है।" तब मेरा जवाब इस तरह था- "हमारा कोई ऐतिहासिक स्वाभाव नहीं है, इसलिए वह सही होता है, ऐतिहासिक होने का मतलब है तुम्हारे धर्म ग्रन्थ मनुष्य निर्मित है, किन्तु मेरा वैसा नहीं है।" (विवेकानंद साहित्यसर्वस्व)। भारतीय संस्कृति का निर्माण मनुष्य इतिहास के विरुद्ध इतिहास तथा ईश्वर केन्द्रित ज्ञान व्यवस्था पर आधारित है। ज्ञान वावस्था को भौतिकता से हटाकर धार्मिकता पर निर्मित किया है। मानविकता के पक्ष में होने के कारण चार्वाक, जैन, तथा बौद्ध जैसे लोगों को निष्प्रभ किया गया। इतिहास के वाहक के रूप में अपना जीवन समर्पित करने वाले इनको भारतीय अतिभौतिक ज्ञान व्यवस्था ने अमानुषिक तथा इतिहास के विरुद्ध मानने लगे। ज्ञान कर्म व्यवस्था के साथ, तथा कर्म व्यवस्था वर्णव्यवस्था के साथ सम्बंधित है। लोगों का मानना था कि अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्मों के द्वारा जिनको भी देवत्व की प्राप्ति हुई वे लौकिक से अधिक ब्रह्म को जानते हैं। यानि तैतरीय बौद्धों का और जैनों की भूमि है, इसका विरोध शंकराचार्य ने उपनिषदों के द्वारा किया।

जब ज्ञान भौतिकता से अलग होकर, कर्म वर्णाश्रम से जुड़ जाता है तब ब्रह्म को जानने का अधिकार केवल ब्राह्मण का बन जाता है। माना जाता है कि उपनिषदों के काल से ही ब्राह्मण को ब्रह्म ज्ञान जन्म सिद्ध है। ब्राह्मण कुमार नचिकेतस से यमराज तक को भी माफ़ी मांगना पड़ी, इसका उल्लेख कठोपनिषत में मिलता है। लेकिन इतिहास से पता चलता है की ब्राह्मणों ने

इस अधिकार की स्थापना के लिए बहुत संघर्ष भी किया है। मुख्यधारा के भारतीय साहित्य विशेषकर संस्कृति एवं साहित्य को ज्ञान-व्यवस्था के द्वारा उत्पादन व्यवस्था अपने कब्जे में करते है। प्रपंच की उत्पति सम्बन्धी सिद्धांत की स्थापना भी अति-भौतिकता पर निर्भर है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त आदि ब्रह्मणिकता के उदहारण के रूप में सामने आते हैं।

ब्राह्मणिक ज्ञानशास्त्र ज्ञान को मनुष्य निर्मित नहीं मानता। ब्रह्मज्ञान के प्रभुत्व स्थापित करने से प्रपंच के हर व्यवहारिक क्षेत्र में ब्राह्मणों को अधिकार मिलने लगा। ज्ञान अति-भौतिक तथा ज्ञान व्यवहार ब्रह्मणीय बन गया। प्राचीन जनता के प्रपंच की अवधारणा कहीं न कहीं अतिभौतिकता से मिलती-जुलती है। लेकिन उसके ऊपर भी ब्राह्मणों ने अपना अधिकार जताया। प्लेटो की मान्यता की तरह वस्तु से परे ज्ञानलोक नहीं बल्कि भौतिकता को भी नकारने वाले ज्ञानरूप की तरह उसका विकास हुआ।

ब्रह्मानन्द सहोदर रस-ध्वनियों की स्थापना के साथ साहित्य में ब्रह्मणिकता की प्रतिष्ठा हुई। रस हो या ध्वनि भाषा के अर्थ तथा सौन्दर्य को व्यवहारिकता से अलग कर ईश्वर केन्द्रित एवं निगूढ़ बनाते हैं। तथा अलौकिकता को आदर्श बनाकर सौन्दर्य के सामाजिक व्यवहार को रहस्यमय करते है। ब्राह्मणवाद की तरह साहित्य के लिए भी जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष बन गया। आनंद वैयक्तिक अनुभूति है। इस कारण से कहीं न कहीं यह आनंद व्यक्ति के मोक्ष में ही सीमित होकर सामाजिक सौन्दर्य को नकारता है। यानि एक व्यवस्था की दृष्टि से देखें तो भारतीय काव्यशास्त्र ने समाज तथा जनता की समझ से परे सौन्दर्य अवधारणा के सिद्धान्तों को विकसित किया है। सामजिक व्यवहारों के बाहर केवल सौन्दर्य को महत्व देने से तथा ज्ञान पर मिथ्या का प्रचार करने से ही इन अवधारणाओं के लिए समाज महत्वहीन रहा। अब तक प्रकृति तथा जंतुओं से जीतकर अतिजीवित समाज और सामाजिकता के प्रति यह सवर्ण शास्त्र ज्ञान मौन रहे। इसी ज्ञान सौन्दर्य व्यवस्था को ही

भिन्न भाषाओं में भिन्न तरीके से दर्शाया। केवल सुख आनंद अनुभूति आदि के अस्वादन प्रक्रिया को ही काव्यशासत्रों ने साहित्य का परम लक्ष्य बनाया। यह आनंद व्यवहारिक आनंद या सामाजिक आनंद नहीं बल्कि वैयक्तिक आनंद है। वस्त्यायण शास्त्र तथा ध्वन्यालोक आदि में इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। ध्वन्यालोक के श्लोक में ज़्यादातर स्त्रियों को वस्तु के रूप में देखा गया है। ध्वनि का मुख्य रस श्रृंगार है किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि, मानव का अतिजीवन एवं सहवर्ती होने की अभिव्यक्तीकरण है। इस सामाजिक अभिव्यक्ति का शोषण करने वालों का समर्थन इन ग्रंथों में तथा सिद्धान्तों में पाया जाता है। इस तरह कविता से सम्बंधित हर रूपक उपभोग की नज़र से सामाजिकता को शिकार बनाया है। धीरे-धीरे उत्पादन को अप्रस्क्त बनाने वाली एक सौन्दर्य व्यवस्था समाज में उत्पन्न हुई। कांचा इलय्या का कहना है - पूरे महाभारत की कथावस्तु सत्ता तथा धन के इर्द-गिर्द घूमती है।

ज्ञान की भौतिकता मलयालम साहित्य को कभी प्राप्त नहीं हुई है। ज्ञान शास्त्र की दृष्टि से हो या सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से मलयालम साहित्य ने संस्कृत काव्यशास्त्र का सहारा लिया। शाकुंतलम तथा मेघसंदेशम आदि रचनाओं का अनुवाद से स्वयं संस्कृत के गुलाम बनने का प्रमाण है। अपनी मिट्टी के मनुष्य की गंध मलयालम कविता के इतिहास में नहीं है। नियो क्लासिक युग में सम्पूर्ण रामायण एवं महाभारत का कोई परिवर्तन किये बिना एक ही तरह पुनराविष्कार किया गया। चेरुश्शेरी कन्नशन, एषुत्तच्चन (मलयालम के भक्त कवि) आदि ने निष्फल मनुष्य जन्म का एक मात्र आश्रय को आत्मीयता बनाया, किन्तु इससे साधारण श्रमिक जनता को नकारा भी गया। ब्राह्मण प्रत्ययशास्त्र के आधार पर रचित कृतियों में हनुमान, सुग्रीव तक राम की कृपा पर आश्रित है। भगवन और हम में क्या अंतर है। चमार होने पर स्वयं को नीचा मानना मानविकता नहीं है। जब साहित्य रामपुरत वारियर के युग में पहुँचता है तब अवधारणा में परिवर्तन होता है, यानि ऐसा माना गया कि

दरिद्रता समाज की असंतुलितावस्था का परिणाम नहीं तथा उसका निवारण केवल भगवान ही कर सकते है। सत्ता ने भी कीर्तन का सहारा लिया। कहीं न कहीं नम्बियार (कुंजन नम्बियार) की कविताओं में मानवता की झलक दिखाई पड़ती है। किन्तु उस मानवता तथा जनता की समस्याओं को मुख्यधारा समाज ने केवल व्यंग्य के रूप में ही देखा। आडम्बर जीवन के मनोरंजन की उपाधि के रूप में अट्टक्कथा (कथकली साहित्य), तथा चम्पूकव्यों की सृष्टि हुई है, इसलिए इसमें साधारण जनता की मानविकता ढूंढना मूर्खता होगी। श्रृंगार तथा रति जैसे मनुष्य के भावों को कविता में केवल लीला की नज़र से चित्रित करने लगे। वास्तव में चाक्यार[29] ब्राहमण मूल्यों की श्रृंगारिकता और बढ़ाया है। सन्देश काव्य साधारण जनता पर व्यंग्य करता रहा।

"मानव अपनी बुद्धि से कितनी भी ऊँचाई पर पहुँच जाएँ किन्तु ज्ञान देवता उसके लिए अभी भी असमान जैसा है जहाँ पहुँचना असंभव है।"

वल्लात्तोल की यह नियोक्लासिकल कविता के अंत में ज्ञान के सृष्टिकर्ता मनुष्य को नकारती है। वल्लात्तोल की देशीयता भी ब्राहमणवाद पर आश्रित है। इसी कारण से ही भारतीय संस्कृति को भगवान कृष्ण के साथ जोड़ने का प्रयत्न हुआ है। क्षत्रिय सामंत तथा दलित के आतंरिक कम्पन एक जैसे होने से भी यह विभाजन का अंत नहीं होगा, उल्लूर ने अपनी कविताओं में भी इस विभाजन का समर्थन किया है विरोध नहीं। लेकिन सबको ईश्वर की सृष्टि मानने से जातिव्यवस्था को भी सरल दृष्टि से देखा जाता है। इसी मूल्य की पृष्ठ्भूमि से ही आशान (मलयालम के प्रसिद्ध कवि कुमारनाशान) की कविता 'दुरवस्था' और भी विलक्षण बन जाती है। कहीं न कहीं आशान की कविता भी ज़िन्दगी पर नहीं बल्कि निर्वृति पर आधारित है।

[29] चाक्यार कूत्त नामक मुख्यधरा कला के कलाकार को चाक्यार कहते है

आत्माभिव्यक्ति तथा पलायन की झलक ही अधिक रूप से मिस्टिक तथा रोमांटिक कविताओं में दिखाई देता है। संसार को निगूढ़ रूप में वर्णित योगात्मक कविताओं में व्यावहारिकता को अद्भुत बनाया। रोमांटिक कविताओं का आदर्श भी सौन्दर्य का उत्पादन मात्र था। केरलीय की काल्पनिकता ने केवल व्यक्ति केन्द्रित कल्पना की दुनिया के उत्पादन के अलावा और कुछ नहीं किया। चंगम्बुषा (मलयालम के रोमांटिक कवि) प्रगतिवादी कवि होने पर भी सौंदर्य व्यवस्था तथा काव्य-व्यवस्था की मनोरंजक दुनिया में बंधे थे। वैलोप्पिल्ली तथा इडश्शेरी ने 'ज़िन्दगी के समुद्र' कविता में यह नहीं बताया हैं कि किसकी 'ज़िन्दगी' है। धरती के लोग उनके लिए केवल नज़ारा ही बन गए, लेकिन जो ज़िन्दगी की असलियत भुगत रहा है उसका नज़र एवं रूचि कुछ और है। मानववादी होकर भी कविता का क्षेत्र इन सच्चईयों से दूर था।

असाधारण शक्ति और अधिकार के साथ केरल में आये प्रगतिवाद तथा आधुनिकतावाद के अन्तर्गत साधारण मनुष्य नहीं थे। कुछ लोग गाँव में वापस आकर बसने लगे और गाँव कुछ लोंगों के लिए गृहतुर मात्र रह गए। किन्तु अतीत की याद आना या गृहतुर होना एक तरह से केवल एक सामंतवादी बोध था। बाह्य रूप से वे लोग वल्लात्तोल और अंतरिक रूप से एषुत्तच्चन बनने लगे, यानि बाह्य रूप से प्रगतिवादी और आतंरिक रूप से लकीर के फ़कीर। इस युग ने जाति केन्द्रित समाज-व्यवस्था का अकेले सामना किया। साथ-साथ वामपंथी विचारधारा एक मिथ्या के रूप में प्रतिष्ठित हुई। गुरु वचन 'जाति न पूछो' बाद में दलितों प्रति सवाल उठाने लगा। इस वजह से ही जाति व्यवस्था का अस्तित्व समाज में होने पर भी साहित्य इस समस्या के प्रति हमेशा मौन रहा। धीरे-धीरे वर्गीयता, समाज विरोध आदि रूप में वह परिवर्तित होने लगा। जैसे शत्रु के सामने निशस्त्र बन जाते है, उस निष्फल स्थिति को समाज ने स्वयं स्वीकार किया। इस तरह समाज से अलग हुए इस जनता को हम किस साहित्य

में ढूंढेंगे? उल्लूर लिखते है : मौखित साहित्य को सिर्फ भाषा इतिहास में स्थान है, साहित्येतिहास में नहीं।

जहाँ मौखिकता से लिखित में दलित परिवर्तित हो जाता है वहां लोकतंत्र का निर्माण होता है। उस तरह सार्वजनिक समाज की एक ज्ञान व्यवस्था में इसका परिवर्तित होना भी ज़रूरी है। दलित की ज्ञान व्यवस्था और सौन्दर्य अवधारणा को स्वीकारना है। इस से ही केरलीय समाज पूर्ण रूप से लोकतांत्रिक बनेगा। दलित का पहचान अलग नहीं है, वह बिलकुल इतिहास तथा जातिव्यवस्था की सृष्टि है।

वह भी सामाजिक आन्दोलन में बलिदान का हिस्सा है।

(2001)

8. प्रतिमाओं की बातचीत

‘ गांधीजी कौन थे’ अध्यापक के इस सवाल के सामने डरे हुए विद्यार्थी का जवाब है:

“गांधीजी केवल एक वृद्ध थे।”

व्यापक रूप में प्रचलित केवल चित्र एवं प्रतिमाओं से बच्चों के मन में उत्पन्न गांधीजी के व्यक्तित्व का यहाँ मनोरंजक रूप विद्यार्थी ने जवाब के द्वारा प्रस्तुत किया। चित्र, शिल्प आदि केवल एक मामूली चीज़ नहीं है। व्यावहारिक क्षेत्र में उसके माध्यम से उत्पन्न होने वाले अर्थ या परिभाषा भविष्य को रूपायित करने में मुख्य भूमिका निभाता है। उस वृद्ध की निश्छल हंसी में कोई भी बच्चा पहले एक वात्सल्य महसूस करता है। किन्तु उसके साथ-साथ उस महान व्यक्तित्व के राष्ट्रीय वास्तविकता की पृष्ठभूमि मिट जाती है।

स्वातंत्र्यानंतर भारत में राष्ट्रीय व्यवहारों द्वारा जीवित रखने वाले आशयों तथा प्रत्यायाशास्त्रों को केवल निश्चल बना दिया गया। बाद में इसी कारण से स्वयं कांग्रेस को भी गांधीजी के मार्गदर्शन से अलग होने के कारण उनका दर्शन केवल ट्रेड मार्क सा लगने लगा। गलती बच्चों की नहीं है हमारे राष्ट्रीय बोध की है।

केरलीय समाज में श्रीनारायण गुरु का नाम ‘सीमेंट नाणु’ के लकब या बिगाड़ू नाम से भी जाना जाता है। नारायण गुरु को ऐसी प्रतिछाया मिलने का

कारण केरल के मंदिरों में स्थापित उनका सीमेंट शिल्प ही हैं। आज गुरु के विग्रह से जाति विरोध, सामाजिक समता, नवजागरण की अवधारणा से हटकर केवल पूजा का शिल्प मात्र बन गया है। 20 वीं शती के आरंभ में जाति के विरुद्‌ध केरल की सबसे प्रबल शक्ति नारायण गुरु थे, किन्तु वह आदर्श का प्रतीक आज वापस जाति व्यवस्था के अन्दर बंधे हुए है।

राष्ट्रीय मूल्य से वंचित गांधीजी के और नवजागरण मूल्य मिटे गुरु का आदर्श आज केवल उस शिल्प की तरह कृत्रिम बन गए।

इसके साथ कुछ और विपरीत बातें जोड़ने की आवश्यकता होगी। इन दोनों शिल्पों का रूप एकांत हिन्दू सन्यासी का है। भारत के सबसे बड़े क्रांतिकारी इन दो महापुरुषों का रूप किस तरह ध्यान मग्न सन्यासी के रूप में बन गया। मानवता के वाहक ये किस तरह से असाधारण 'दिव्य' रूप बन गए। आश्रित और दमितों के साथ उनके लिए अपना पूरा जीवन त्यजित ये किस तरह हिन्दू भगवान मूर्ति के रूप में परिवर्तित हो गए। जनता के सुख दुखों में उनके स्वप्नों की उर्जा बनने के बदले उन जनप्रिय नेताओं का सन्यासी के रूप में परिवर्तित होना विपत्ति का आरम्भ होना है, क्योंकि संन्यासी का रूप अलौकिकता का प्रतीक है। सामान्य जनता उसको स्वीकार नहीं कर पाती है, और गांधीजी तथा गुरु कभी जनता से दूर रहना नहीं चाहते थे। समाज में अपने योगदान को महत्वहीन बनाने की यह प्रवृत्ति किसी भी जनप्रिय नेता के

स्मरण के साथ होने वाली अनीति है। एक-एक शिल्प इतिहास के प्रवाह में अपना सशक्त छाप छोड़ता है।

बुद्ध के शिल्प पहले से ही इस विपत्ति का शिकार बन गए हैं। बुद्ध का ध्यानमग्न रूप संसार भर में प्रसिद्ध है। भारत में बुद्ध को भी विष्णु का अवतार बना दिया गया है। उनके राष्ट्रीय बोध और उनके नैतिक मूल्यों को भूलकर अनेक अद्भुत प्रवृत्तियों की तथा जन्म संबंधी कहानियों का प्रचार हो गया। बुद्ध के सामाजिक राष्ट्रीय वास्तविकता को नया जन्म देने का अम्बेडकर के प्रयास तथा कांचा इलाय्या की पुस्तक 'God as Political Philosopher' आदि ने बुद्ध के नाम पर प्रचलित असत्य कहानियों का प्रत्यक्ष रूप से विरोध करने की हिम्मत दिखाई है। मराठी कवि दया पवार अपनी कविता 'बुद्ध' में कहते है, हमें अजंता या अलोरा में प्रवाचक नहीं मिलेंगे।

"मैं तुम्हें देखता हूँ।

एक साधारण व्यक्ति के रूप में,

जो चलता है, बात करता है

कभी कभी प्यार से डांटता है,

आश्रितों के थकन में, दुःख में सहारा बनकर

अंधकार में कुटिया से कुटिया तक,

हाथ में रोशनी लेते हुए तुम चलते रहे।”

एक साधरण जनता ध्यानमग्न बुद्ध से अधिक इसी बुद्ध के निकट ही आ पायेगी। बंद आँखों से शिला पर एकांत में पद्मासन में बैठे बुद्ध के चित्र उनके समाज सुधारक के रूप को अन्धकार में डाल देता है।

लेकिन हिन्दू सन्यासी के रूप से अलग रूप अम्बेडकर ने जान-बूझकर अपनाया, इसका प्रमाण उनके चित्र/शिल्प देते है। उनके चित्र भारत के ब्राह्मण प्रभुत्व की व्यवस्था से मुक्ति, स्वयं पाश्चात्य आधुनिक वेशभूषा धारण करना आदि आधुनिक सिविल समाज की ओर जाने का सन्देश देते हैं। इस तरह एक क्रांति का जब उत्पादन होता है तब शिल्प/प्रतिमा भी इतिहास में अपना स्थान स्वयं हासिल कर पाते हैं।

ध्यान मग्न बुद्ध तथा गाँधी जी का हिन्दू सन्यासी का रूप कभी भी सेक्युलरिज़्म का प्रतीक नहीं बन पाएँगे। गलत तरह से उसका व्याख्यान होना भी समाज के लिए विपत्ति ही है।

(2004)

9. कला और आदिवासी

एक कला सृष्टि कभी अनश्वरता का दावा नहीं देती, मानव-जीवन के साथ उसका परिवर्तन होता रहता है। कला का आदिमरूप तथा स्थिरता के संकल्प से तात्पर्य उसकी अनश्वरता पर विचार करना ही है। इतिहास एवं काल निरपेक्ष सौन्दर्यबोध मौलिकवाद की ओर मार्ग दिखाता है। यह बात स्पष्ट है कि रूचि, विचार-बोध आदि रूप से निरंतर होने वाली मानवराशि की कला का वर्तमान रूप गोत्र काल के रूप से बिलकुल भिन्न है। कला इतिहास के साथ चलती है।

गोत्र-कला की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह मनुष्य की ज़िन्दगी तथा उसके एक एक स्पंदन से जुड़ी है। ये कलाएँ उनकी मुख्य आजीविका थीं। केवल अस्वादन कला का तत्व नहीं है। संगीत, नृत्य और अन्य अनुष्ठान कलारूपों से वे अपने ही वर्ग से संवाद करते हैं। वह एक आत्माभिव्यक्ति है, अति-जीवन की भौतिक तथा आत्मीय आवश्यकता है, यह जीवन की प्राचीन व्यवस्था है। अनेक सीमाओं के साथ अनेक अद्भुत भी इन कलाओं के साथ जुड़े हैं। वर्तमान समय में आदिवासी कलाओं को मौलिकता एवं वर्गीयता की दृष्टि से देखना मूर्खता तथा अप्रासंगिक होगा।

कला का ज़िन्दगी से भिन्न एक अस्तित्व भी है, यह तब पता चलता है जब हमें यह एहसास होता है कि समाज में कुछ लोग भूखे पेट भी रहते है। इस तरह कला एक आजीविका बन जाती है तथा वह लोगों का मनोरंजन भी करती रहती है। अथवा कहीं-न-कहीं सामाजिक जीवन से कला भिन्न होती रहती है। लेकिन गोत्र-कला ज़िन्दगी से भिन्न नहीं है। इसलिए ज़िंदगी के साथ उसका भी निरंतर परिवर्तन होता रहता है। गोत्र-कला में कला के रूप से कोई परीक्षण और विकास संभव नहीं है। यह ऋतू, जीवन व्यवस्था, आचार-विचार आदि से सम्बंधित है। सारी आदिवासी कलाएँ प्रकृति तथा ज़िंदगी से जुडी हुई हैं।

अदिवासी जनता (मुंडा जनजाति कुछ विशेष सन्दर्भ में) चटाई (नारियल पेड़ के पत्ते, ताड़पत्र आदि से बनाते है) बनाने के लिए सामान की खोज के लिए यात्रा करते हैं और इस दौरान गाना गाकर नृत्य करते है। 'पच्चकुत्त'[30] नामक कला विवाह तथा यौन क्रिया से संबंधित है। केरल में त्यौहार तथा अनुष्ठान आदि के आधार पर कला का अस्तित्व है। यह देख सकते हैं कि केरल के 35 से अधिक आदिवासी वर्ग तथा भारत के 600 से अधिक आदिवासी वर्ग की आजीविका का मुख्य मार्ग उनकी गोत्र-कला ही है। इसलिए इनको सिर्फ कला की दृष्टि से नहीं बल्कि इनको 3 विभाग में बांटा जा सकता है:

1. धार्मिक तथा अनुष्ठानपरक,
2. उपयोगात्मक,
3. अलंकरात्मक (अर्थात् त्योहार तथा जगहों के अलंकार, आदि से यह सम्बंधित है।)

इनको उनके मुख्य स्वाभाव से अलग करना मुमकिन नहीं है। विश्वास उन कलाओं को बनाये रखता है।

सामाजिक दृष्टि से कलाओं का महत्व अधिक है, किन्तु इसको उसी तरह बनाये रखना संभव नहीं है तथा उसकी आवश्यकता भी नही है। चित्रकला, संगीत-कला, तथा साहित्य के क्षेत्र में लोक वांग्मय रूप सबसे बेहतरीन नमूना नहीं है। इनको विकसित कला की श्रेणी में रखना सिर्फ कला के इतिहास को नहीं बल्कि मानव इतिहास के चरित्र के भी विरुद्ध है। विकसित जनता का प्रतिनिधान करने के लिए संभव नहीं है, अर्थात् विकसित संसार का प्रतिनिधान करने के लिए गोत्र-कला सक्षम नहीं है।

ऐसी कौन सी विशेषता है जो गोत्र कलाओं को प्रासंगिक बनाती है? सामाजिक विकास का दूसरा मार्ग ये कलाएँ दर्शाती है। इस सामाजिक विकास

[30] शरीर पर गोदना, [अंग्रेजी में इसे टैटू (Tattoo) कहते हैं]

से तात्पर्य है, भौतिक जीवन तथा अति-जीवन आदि के आधार पर केरल का सामान्य विकास हुआ है, यानि यह केरल के विकास का बीज रूप है। उपलब्ध प्रकृतिक सामग्रियों से उन लोगों ने चिरत-कला, अनुष्ठान आदि सारी कलाओं की रचना की। इन कलाओं का जन्म एक जनता के आतंरिक जीवन से हुआ है, या स्वयं के सामाजिक स्थिति का निर्माण तथा विकास करने में सहायता करता है। आधुनिक युग की मनोरंजक कलाओं से अति-जीवन के एवं आजीविका की इन गोत्र कालाओं में ज़मीन-आसमान का अंतर है। इन दोनों कलाओं को दो युग की सृष्टि की नज़र से ही देखा जा सकते है। समाज में कुछ वर्ग ऐसे है जिनका पेट आधा भरा है, उस स्थिति में कुछ वर्ग केवल आस्वादन एवं मनोरंजन कलाओं के पीछे भाग रहे है।

भौतिक जीवन के साथ शुद्ध कलाओं में भी परिवर्तन होता है। आदिवासी जनता को केरल की मुख्यधारा में लेने से ही सामाजिक नीति संभव होगी। नहीं तो वे हाशिये में ही रह जायेंगे। आदिवासियों के ऊपर जितने भी ग्रन्थ है उनमें इन लोगों को एक विचित्र जन की दृष्टि से चित्रित किया है। ऐसा व्यवहार कभी उनकी उन्नति की साम्यता नहीं करेगा, और आदिवासी कलाओं को केरल की मुख्यधारा कला के स्वस्थ स्थान भी नहीं मिलेगा। गोत्र कलाओं की पहचान बनाने के लिए उनके कालांश में नयापन लाना ज़रूरी होगा। अनेक परिवर्तनों के कारण से ही केरल की इतर में जितनी भी कलाएँ अपना वर्तमान रूप की प्राप्त की हैं। सोचने की बात यह भी है कि, कहीं न कहीं गोत्र कलाओं के आचार अनुष्ठान एवं विश्वास विकास का बाधा बनते हैं। अर्थात आचार अनुष्ठान के ऊपर जितने भी आन्दोलन केरल में हो रहे है, उसी तरह आंदोलन आदिवासी कलाओं के साथ बृहत् रूप से होना चाहिए। अर्थात् कला और जिन्दंगी का एक साथ पुनराविष्कार आदिवासी जनता में भी होना चाहिए।

एक जनता की पहचान कभी भी विज्ञान और विकास के विशाल क्षेत्र के अंतर सीमित नहीं रहनी चाहिए। किसी भी जनता का अस्तित्व नित्य नहीं है।

ईश्वर पर आधारित संसार केवल काल्पनिक है अथवा स्वप्न है। एक मनुष्य का संसार और उसकी वास्तविकता उससे भी परे है। जिस ज़मीन पर उसने अपना पसीना सींचा है वह धरती भी आदिवासियों की रक्षा नहीं करती है। आदिवासी कलाकारों को बांस के शिल्प का व्यवसाय का विकास करना चाहिए। वन से बेहतरीन औषधियों का उत्पादन करना चाहिए तथा बेहतरीन और नए जैव विज्ञान का भी परिचय उनसे लेना चाहिए। इस तरह विकास की नयी संभावनाएँ सामने आती है तथा नए वैज्ञानिक संसार का निर्माण भी होता है। अविकसित कहकर गोत्र कलाओं को और उनके ज्ञान को अलग रखना उन्नति का लक्षण नहीं है। अज्ञानता तथा सुरक्षा दोनों अलग-अलग है। गद्दिका से सभी आदिवासी कलाओं का संरक्षण करने की ज़िम्मेदारी केवल उनकी नहीं है। सामंतों की कुलीनता के प्रदर्शन का विरोध दरिद्र दलित कैसे करेगा? आदिवासियों की निरक्षरता का मनोरंजन यह लोग लेते हैं। इसी समाज में रहकर ही सी.के. जानू भी सवाल उठती है:

"गद्दिका जैसे आचार अनुष्ठान को तत्कालीन समाज के स्वभाव के अनुसार नकारना या फिर स्वीकारना चाहिए। हम में से कोई नहीं कहेगा कि हमारे किसी आचार को मुख्यधारा समाज में भी पहचान मिलनी चाहिए। क्योंकि हमारी जाति का आचार-अनुष्ठान मुख्यधारा जैसे आरामदायक जीवन के लिए नहीं बनाया गया है। हमारी कला और संगीत का आरंभ और अंत हम में ही रहे तो अच्छा है, क्योंकि बहार उसका कोई मूल्य या अस्तित्व नहीं ही।"

इस तरह ही परम्पराओं से जनता स्वयं मुक्त हो जाती है वे अपनी कलाओं से भी दूर हो जाते है। जो जनता स्वयं का उद्धरण करती है वह कहीं-न-कहीं इन कलाओं को स्वीकारने तथा उसके सौन्दर्यंश का अनुभव करने की योग्यता रखती है, वही कला, कला के रूप में में अनश्वर रहती है।

इसका मतलब यह नहीं कि जनता के मानसिक संघर्षों से रक्षा करने वालों की कला की विशेषता का तिरस्कार करना है, बल्कि जनता की मुख्य समस्या को नज़र-अंदाज़ नहीं किया जाना चाहिए, उनकी मुक्ति ही यहाँ बड़ी समस्या है। कभी-कभी सामाजिक उद्धार के समय पुरानी कला छूट भी सकती है। किन्तु वहाँ एक नई कला का निर्माण भी होता है। किन्तु केवल कला के बारे में नहीं बल्कि ज़िन्दगी के बारे में हमें चिंतित रहना चाहिए। जब कलाएँ जीवन के इतिहास का अधर बनती है तब कला सही मायने में संपन्न बन जाती है। तेय्यम, कथकली, पड़यणी, कूड़ीयट्टम जैसे कलारूपों का अस्तित्व तथा प्रतिष्ठा आज एक जाति या एक विभाग के नाम पर नहीं है। आज उसके अकलंश को स्वीकारने वाला एक व्यावहारिक मंडल निर्मित हो गया है। किन्तु आदिवासी कला (तथा ज़िन्दगी) को क्यों अभी भी परिवर्तित किये बिना फोसिल की तरह संरक्षित किया गया है? वह क्यों केवल फोल्क्लोरिस्ट के अध्ययन का क्षेत्र बनकर सीमित हो गया?

केरलीय का मुख्य एवं सामान्य कला कोई भी नहीं है, हर एक कला एक-एक जाति का उदहारण है। अगर कथकली या कूड़ीयट्टम केरलीयता की मुद्रा प्रतिष्ठित हो रही है तो उसका तात्पर्य है बाज़ारीकरण तथा अन्य व्यावहारिक मार्गों द्वारा उसका सम्प्रेषण बाह्य दुनिया में हो गया है। लेकिन इस तरह एक बाज़ारीकरण दलित कलाओं के विषय में संभव नहीं है। सच्चाई तो यह है वेशभूषा, रंग आदि में तेय्यम को चुनौती देने वाली और कोई कलारूप केरल में है ही नहीं। फिर भी डिजाइनिंग के क्षेत्र अभी तक उस कलारूप से प्रेरित नहीं हो पाए। लोक-गीतों से संपन्न होने के बावजूद उसको बाज़ार में लाकर सही रूप से प्रचार करना दलितों के लिए असंभव होता है। वर्त्तमान काल के अनुसार इनको शास्त्रीय रूप से विकसित करना कला के या आदर्शों के विरुद्ध नहीं है, नहीं तो कला की संपत्ति हमसे किसी-न-किसी रूप से छीनी जाएगी (इसका उदहारण है अवर्णों की संपत्ति का किस तरह गोरों ने बाजारीकरण करके किया, माइकल

जैक्सन ने भी इसका बाज़ारीकरण किया है)। इस तरह एक पूरे समूह की ज़िन्दगी का अपहरण होता है।

पहचान से सम्बंधित संकुचित भाव को नकारने के साथ-साथ ज़िन्दगी की पुनः सृष्टी करनेवाले इन सामजिक मूल्य तथा कलाओं का भी संरक्षण करना बहुत आवश्यक है। किन्तु उसको स्वीकारने से तात्पर्य वैसे नहीं जैसे प्रारंभिक काल में मलयालम साहित्य ने इन कलाओं का छत्र बहुत दयनीय रूप से किया, या फिर क्रोध में नृत्य करने वाले नृत्य रूप में नहीं, बल्कि केरल की संस्कृति के आधारशिला के रूप में इन कलाओं का स्वीकार करना चाहिए। दरिद्रों के स्वप्नों से ही देश का निर्माण होना चाहिए।

(2002)

10. भाषा एवं उपनिवेश

'शुद्ध भाषा' भाषा केवल एक संकल्प मात्र है। भाषा का हमेश एक मिश्रित स्वभाव होता है। सिन्धु घाटी सभ्यता का नाम देने वाले जॉन मार्शेल ने देखा कि उसमें आर्यों का मिश्रण हुआ है तथा भारतीय संस्कृति का निर्माण इससे हुआ है। साधारण जनता की यात्राओं का निर्णय भाषा नहीं उनकी और कुछ ज़रूरतें करती हैं। भाषा को अनन्य बनाये रखने के लिए कोई भी भाषा अपने संचार को सीमित नहीं करती है। आश्रितों का आना, उपनिवेश, मौसम के व्यतियान, व्यापारिक संचार आदि के कारण भी भाषा में परिवर्तन आते हैं। अन्य भाषाओं का मिश्रण पहले मौखिक भाषाओं में व्यक्त होता है। भाषाओं के सीमांत से भाषा के केंद्र तक वह विस्तृत होता है। इस तरह विभिन्न भाषाओं के मिश्रण के फलस्वरूप मलयालम में पहली बार गद्य की रचना हुई।

सांस्कृतीक रूप से 'संस्कृत', राष्ट्रीय रूप से 'सेंतमिल' ये दो मुख्य घटक थे जिन्होंने प्रारंभिक काल से केरल के राष्ट्रीय सांस्कृतिक व्यवहारों को प्रभावित किया। 9वीं शती में राजशेखरन तथा स्थाणु रवि के शासनों में भाषा मध्यकालीन सेंतमिल थी, फिर भी सी.एल. अंटोनी की राय है कि भाषा के मिश्रित स्वाभाव को हमें परखना चाहिए। एक-एक भाषा गोत्र का निर्माण किसी क्षेत्रीय भाषा व्यवहारों के मिश्रण से होता है। एक मूल भाषा की घटना में शिथिलत्व नहीं होता है। इसलिए बहुभाषिकता का आधार मिश्रण (hybridity) ही है।

द्रविड़ भाषाओं में एक मलयालम में गद्य का आरंभ, तथा विकास अनेक भाषाओं के मिश्रण तथा उपनिवेश के आधार पर ही हुआ है। भाषा के क्षेत्र में अन्य भाषा का मिश्रण कोई आपत्ति की बात नहीं है। प्रारंभ में 'कोडून्तमिल' के रूप से भाषा धीरे धीरे 'सेंतामिल' का रूप धारण करने लगे उसके उपरांत 14 वीं शत्ति के बाद संस्कृत से प्रभावित होकर (अक्षर माला परिष्करणम) 'लीलातिलकं'

के 'चोल' 'पाण्ड्य' भाषाओं से मलयालम का अलग एवं स्वतंत्र रूप का निर्माण हुआ। तब तक संस्कृत का प्रभाव मलयालम में प्रबल रूप से दिखाई दिया तथा भिन्न संस्कृति का मिश्रण भी। स्पष्ट रूप में कहे तो 'सेन्तमिल' तथा संस्कृत से ही मलयालम का जन्म हुआ है, यानि अन्य भाषा का प्रभाव ही मलयालम का आधार है। अन्य भारतीय भाषाओं के निर्माण में फारसी, अरबी एवं संस्कृत आदि मुख्य आधार बनें हैं। 'उर्दू' के निर्माण का इतिहास भी फारसी/अरबी तथा खड़ीबोली के इतिहास से सम्बंधित है। 13 वीं शती के अमीर खुसरो इसलिए हिंदी तथा उर्दू के आदिकवि बने कि व्यत्यस्त भाषाओं के मिश्रण से इन दोनों भाषाओं का निर्माण किया गया है। कहा जाता है उर्दू और हिंदी खड़ी-बोली का रूपांतर है। उर्दू को 'रेख़्ता' भी कहा जाता था। इसका मतलब है भाषाओं का मिश्रित रूप। अर्थात कोई भी भाषा का विकास किसी अन्य भाषा के आश्रय के बिना संभव नहीं है।

सत्ता भी भाषा के विकास में प्रभाव डालते है। केन्द्रीय अधिकार का दुर्बल होना और क्षेत्रीयता प्रबल होने से नई भाषाओं का निर्माण हुआ। मागधी, शौरसेनी, वैदर्भी, कन्नौजी, बुंदेलखंडी आदि प्रबल प्रादेशिक सत्ता के आधार पर निर्मित हुआ है। उसी तरह तीर्थाटन स्थल के आधार पर भी ये भाषा भेद प्रबल हो गए। ब्रज भाषा मथुरा की श्रीकृष्ण कहानियों के माध्यम से केंद्र में आई भाषा है। 12 वीं शती होते ही चेर साम्राज्य का क्षय होने लगा तथा वेनाड जैसे छोटे राज्य प्रबल हो गये, इसके साथ-साथ राजभाषा 'सेंतामिल' में प्रादेशिक भाषा 'कोडुमतमिल' का मिश्रण होकर नयी भाषा रूपांतरित हो गयी। इस तरह एक क्षेत्रीय भाषा के विकास में राष्ट्रीय, विरुद्धता का बोध, वरिष्ठ कृतियों का प्रभाव आदि कारण बनता है। तो यह कैसे होता है?

भौगोलिकता के आधार पर निर्मित क्षेत्रीय भाषाओं के एक समूह में अन्य भाषाओं के प्रभाव से भाषा की क्षेत्र विशेषता और भी सामने आती है। वह एक भाषा के निर्वचन में सहायक तत्व बनता है। यही लीलातिलकम में हमें दिखाई

देता है। 'कुन्तलवाद' यह परिभाषित करता है कि चोल पाण्ड्य भाषाओं से मलयालम का अविष्कार किस तरह हुआ। अन्य/स्व आदि का विरोधाभास ही भाषाओं के विकास की शक्ति है। 'अन्य' हर एक भाषा की आतंरिक शक्ति की अप्रकाशित उपस्थिति है। आज की तमिल-मलयालम भाषा को परखने से यह अन्य का तत्व सामने आता है। भाषा में अंग्रेज़ी के चढ़ाव को रोकने के लिए तमिल में तमिल के ही निकटस्थ शब्दों का प्रयोग करते हैं किन्तु मलयालम में अंग्रेज़ी के कुछ शब्दों को परिवर्तित किये बिना मलयालम के साथ प्रयोग कर नयी भाषा शैली का अविष्कार हुआ है। मलयालम तथा अन्य दक्षिण भारतीय भाषओं के निर्माण में सबसे अधिक संस्कृत का ही प्रभाव रहा है। कभी-कभी प्रादेशिक भाषा के निर्माण संस्कृत के प्रभाव को रोकने का या स्वीकारने का श्रम ज़रूर हुआ होगा, इस प्रवृत्ति के कारण से ही आधुनिक मलयालम के जनक के रूप में हमने एषुत्तच्चन को स्वीकार किया है। रामचरित के तमिल मिश्रण से अधिक एषुत्तच्चन के संस्कृत मिश्रण को हमने स्वीकार किया।

संस्कृत स्वयं मिश्रण से निर्मित भाषा है। संस्कृत से प्राकृत या प्राकृत से संस्कृत इस वाद को ज़रा भूलने पर यह व्यक्त होता है कि संस्कृत रचनाओं में प्राकृत को स्वीकार किया था। इससे प्राकृत बोलने वाली एक जनता की उपस्थिति का प्रमाण मिलता है। शाकुंतलम भी इसका उदाहरण है, क्योंकि इसमें कुछ पात्र प्राकृत में बात करते है।

अन्य भाषाओं का प्रभाव का महत्व एक भाषा में केवल अमूर्त रूप से नहीं बल्कि शब्दकोश, व्याकरण ग्रन्थ आदि भी उस 'अन्य' के प्रभाव की देन है। समुअल चंदनापल्ली कहते है: "जिस भाषा में ये दोनों शास्त्र ग्रन्थ नहीं है वह भाषा बिलकुल अनाथ और अपरिष्कृत है।" संस्कृत में रचित लीलातिलक इन शास्त्र ग्रंथों की आधार शिला है, और तीन अन्य भाषाएँ उसकी रचना का कारण बनी। एक भाषा में शब्दकोश और व्याकरण ग्रन्थ की रचना से तात्पर्य है कि उस भाषा के स्वत्व के निर्माण में अन्य भाषा की उपस्थिति होना। अगर

संसार में एक ही भाषा है तो ये दो ग्रन्थों की रचना की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस सत्य में आकस्मिकता नहीं है कि मलयालम का पहला शब्दकोश और व्याकरण का निर्माण पाश्चात्यों ने किया है। इन शास्त्र ग्रन्थों का निर्माण प्रत्येक भाषा के बुनियादी आवश्यकता नहीं है। मलयालम के व्याकरण ग्रन्थ की रचना पहले संस्कृत में (लीलातिलकम्) फिर अंग्रेजी में हुआ है। वास्तव में पाणिनीयम की रचना भी प्राकृत से संस्कृत को छानकर नए रूप देने के लिए हुई थी।

केरल की गद्य भाषा के इतिहास में उपनिवेश का इतिहास भी है। इस 'अन्य' तत्व के आधार पर ही सी.एल.अंटोनी के 'भाषा संक्रमण वादम' की रचना हुई है। ए.डी. 12 के बाद संस्कृत के प्रबल होने के फलस्वरूप 'मनिप्रवालम' तथा 'भाषामिश्र' आदि की रचना हुई। लीलातिलकम् के रचनाकार का कहना है मनिप्रवाल ग्रन्थ में भाषा विभिन्नताओं का वैचित्र्य है। बाद में कहते है इसमें संस्कृत विभक्ति तथा केरल भाषा का योग है। अर्थात् वह ग्रन्थ आधुनिक भाषा में संस्कृत के महत्व का उल्लेख है।

कहीं-न-कहीं नई केरल भाषा के अविष्कार से तात्पर्य भाषा में 'सेंतामिल' के प्रभुत्व को रोकना था। क्योंकि शासन की भाषा तथा '*भाषा कौटिलीयम'* में 'सेंतमिल' का प्रभुत्व है तो 'कूत्त' में प्रभुत्व को रोकने की प्रवृत्ति है। भाषा के इस प्रभुत्व को रोकने के लिए संस्कृत एवं अन्य प्रादेशिक भाषाएँ एक साथ लड़ रहे थी। इसलिए ही लीलातिलकम् के अनुसार 'मनिप्रवालम' संस्कृत की छाया में रखी गयी। मलयालम पर संस्कृत के प्रभुत्व का उत्तम उदहारण है 'दूतवाक्यम गद्यम', अर्थात् 'सेंतमिल' के प्रभुत्व का अंत तथा संस्कृत का आरंभ। और मलयालम सदा उपनिवेश भूमि की भांति अपना प्रयाण करती रही।

मनिप्रवालम में संस्कृत प्रभुत्व के साथ एक और भाषा का भी व्यवहार हो रहा था, लीलातिलकम के अनुसार उसको 'नाम्बियांतमिल' कहा गया। वह

संस्कृत पदों को अपनी आवश्यकता के अनुसार उपयोग करने वाला 'पिड्जिन' (pildgin) शैली थी। किन्तु लीलातिलकम ने इस शैली का स्वीकार नहीं किया। वह शैली संस्कृत के साथ साथ तमिल का भी अव्यवस्थित रूप से स्वीकार हुई, फिर भी वह भाषा 'सेंतमिल' या संस्कृत नहीं थी एक स्वतंत्र भाषा एवं शैली थी। इस भाषा के फलस्वरूप *ब्रह्माण्डपुराणं गद्यम* की रचना हुई। बाद में गद्य का विकास इसी से हुआ था। इसके लिए मुख्य कारण पाश्चात्य उपनिवेश ही था।

जब तमिल, सेंतामिल भाषा शैली और संस्कृत की विभक्ति प्रयोग आदि की छाया से गद्य दूर जाने लगा तब भाषा में पाश्चात्य भाषा की उपस्थिति का आरंभ होने लगा। वह उपस्थिति प्रांरम्भ में मौखिक भाषा में दिखाई दी और बाद में अन्य व्यवहार में भी। उद्यम पेरुर सुनहदोस की रचनाओं में प्रादेशिक व्यवहारों के उदहारण मिलते हैं। एषुत्तच्चन के समय में जिन द्रविड़ पदों का लोप हो गया था बाद में उनका प्रयोग अधिक प्रबल होकर मिशनरी कृतियों में मिलता है। क्योंकि मौखिक साहित्य में इन व्यवहारों का अधिक प्रयोग पाया जाता है। साहित्य की भाषा के आधार पर यह भाषा शैली संभव नहीं है।

वास्तव में उदयमपेरुर सुनहदोस के उपरांत पुत्तनकूतुकार तथा पषेकूटुकार की लड़ाई गद्य के विकास में महत्वपूर्ण कारण बनी। ईसाईयों के सन्दर्भ में स्वाभाविक रूप से लैटिन सुरियानी, पुर्तगाल आदि भाषाओं से शब्दों को लेने लगा। नसरानी (ईसाई) की उपस्थिति 1 शतक से केरल में होने पर भी उनको कभी भी उपनिवेशक की दृष्टि से नहीं देखा गया था। क्योंकि अधिक से अधिक लोग धर्म परिवर्तन से ईसाई बने थे। स्करिया सकरिया, एम्.सी. जोसफ, और इडमुरुक जैसे विद्वानों का कहना है मर्तोमा ने बोध धर्म के अनुयायिओं का परिवर्तन किया था। इससे एक बात स्पष्ट होती है कि प्रादेशिक भाषा व्यवहारों का मुख्य कारण शायद बौद्ध-सामान्य परंपरा हो सकती है। परिवर्तित तथा

अन्य जनता ने इस संस्कृतेतर गद्य को महत्व दिया होगा। इस तरह मलयालम सबसे अधिक मिश्रण के साथ बनी भाषा बन गयी।

मिशनरी गद्य का महत्वपूर्ण परिवर्तन था कि भाषा भेदों को एकीकृत करने का प्रयास पहली बार हुआ। क्योंकि केरल के विभिन्न स्थलों पर मिशनरियों के प्रचार के लिए भाषा में एकीकरण होना ज़रूरी था। समाज के साथ मिशनरियों ने जो भाईचारा सम्बन्ध रखा शायद उसी वजह से जितने भी संस्कृतेतर समूह थे सब मिशानारियों के पक्षधर बने। और समाज का बहुमत दलितों के सामान्य व्यवहारों का चित्रण मिशनरियों के गद्य में होने लगा। और समाज में बाइबिल का प्रभाव डालने पर भी यह सहायक बना। के.एम जोर्ज कहते है "आधुनिक मलयालम गद्य के विकास में बाइबिल का प्रभाव अत्यंत महत्वपूर्ण है।" साथ-साथ मुद्रण तथा पत्रकारिता का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा। आखिर में कहे तो मलयालम से तात्पर्य हुआ सारे संसार की उपस्थिति। रूप और भाव में उर्दू .डच, पुर्तगाल, अरबी, तमिल, संस्कृत, फारसी, चीनी आदि बहुत सारी भाषाओं का मिश्रण या संगम है मलयालम। इसलिए उसकी एक सार्वभौमता है। इस तरह हर एक भाषा 'अन्य' के मेल से उत्पन्न है। हर एक विकसित भाषा एक साथ प्रादेशिक तथा सार्वभौमिक है। क्योंकि वह एक दूसरे के विकास का कारण बनती हैं। कभी-कभी वे एक-दूसरे से समानार्थी तथा विरोधात्मक बनती हैं। यही भाषा के विकास की बुनियाद है। आज मलयालम अंग्रेजी के साथ एक ऐसे ही सम्बन्ध में है। औटोजास्पेर्सन लैंग्वेज नामक पुस्तक में कहा गया है - "कोई भी भाषा अन्य भाषा के शब्दों को उधार लेने की बात से मुक्त नहीं है, क्योंकि कोई भी देश सम्पूर्ण रूप से एकांत नहीं है। अन्य देश के साथ सम्बन्ध शब्दों के उधार का भी कारण बनता है।" इस तरह एक ही समय एक साथ लोक तथा सार्वभौम होने की क्षमता भाषा को है। यह एक तरह से उत्तराधुनिकता का उदहारण है। अगर सैद्धांतिक रूप से कहे तो।

सन 1980 के अन्तिम दौर में भूमंडलीकरण (Globalisation) तथा स्थानीकरण (Localisation) दोनों को मिलाकर Glocalisation शब्द प्रचलित हो रहा है। इससे तात्पर्य है 'सार्वभौमिक रूप से सोचो और स्थानीय रूप से कार्य करो' (Think globally and act locally)। Localisation शब्द का मूल रूप जापानी शब्द 'dochak-uka' है, खेती से इस शब्द का सम्बन्ध है। इसका मूल तात्पर्य है आधुनिक फार्मिंग उपकारों का स्थानीय रूप सदुपयोग करना, यानि 'Global Localisation'। Glocal शब्द का प्रयोग पहली बार Manfredlange ने किया। बाद में ब्रिटिश सामाजिक विद्वान रोलैंड रोबेर्त्सन ने इस शब्द को लोकप्रिय बनाया। तथा कीथ, हम्प्तन, बैरीवेलमैन जैसे विद्वानों ने विभिन्न क्षेत्र में इसको विकसित किया। उनकी नज़र में भूमंडलीकरण तथा स्थानीकरण एक ही सिक्के के दो पहलु हैं। एक ही समय में उत्पन्न होने पर एक साथ सार्वलौकिक तथा स्थानीय बन सकता है। फ़ास्ट फ़ूड इसका उदाहरण है, यह एक सार्वभौमिक श्रृंखला है। लेकिन केरल में फ़ास्ट फ़ूड में मुख्य रूप से स्थानीय भोजन ही मिलता है। इस तरह प्रत्येक प्रदेश के विशेष भोजन को सार्वभौमिक रूप से प्रस्तुत कर सकते है। और उदाहरण है 'वर्ल्ड वाइड वेब' या ग्लोबल होने के साथ-साथ प्रत्येक प्रदेश की स्थानीय भाषा में भी इसका रूप होता है। इससे तात्पर्य यह हुआ एक वस्तु का सार्वभौमिक रूप में निर्माण तथा उसका स्थानीय संस्कृति में उपभोग। इसलिए ग्लोकलैसेशन एक मिश्र सृष्टी है। 'लोकल' में ग्लोबल एक साथ जुड़कर तथा अलग होकर भी रहता है।

वास्तव में भूमंडलीकरण के बारे में लोगों का मानना है कि वह सांस्कृतिक सामंतवाद तथा एकपक्षीय वाद है। तब ग्लोकलैसेशन भूमंडलीकरण को संकरण (hybridisation) के रूप में हमारे सामने रखते हैं। यह भूमंडलीकरण में स्थानीयता को देखने की प्रवृत्ति है। रोबेर्टसन का कहना है "Local is globally institutionalized."

ग्लोकलैसेशन के संज्ञा केवल भौतिक रूप से नहीं मानसिक रूप से भी अपना अस्तित्व बनाये रख सकती है। अप्पा दुरे ethnoscape की अवधारणा हमारे सामने रखते है। इससे तात्पर्य है एक जनता जिस भू-भाग को छोड़कर दूसरी जगह जाती वहाँ पुराने भू-भाग की पुन:सृष्टि करती है। जैसे कि मलयाली दुनिया के हर कोने में केरला होटल ढूँढ़ते है, जैसे हम तुलसी के पौधे की पूजा करते है। 'local' एक आतंरिक अनुभव भी है।

ग्लोकल की संभावनाओं को भाषा में भी व्याप्त करने पर उसको नया प्रतिमान मिलता है। मलायलम भाषा के विकास में प्रारंभ से ही मिश्रण का अंतर्विरोध ही आधार बन गया था। स्थानीय एवं उपेक्षित शब्दों के पुनराविष्कार करके local की संभावनाओं को हम बढ़ा सकते है, तथा वैश्विक रूप से पाठकों के सामने रख सकते है। अरुंधती राय ने अपनी कृति 'छोटा' में इसी अवधरणा का उपयोग किया। यु.ए. खादर, बशीर जैसे रचनकार भी इसी अवधारणा के मार्ग पर चले है। लैटिन अमेरिकन साहित्य, अफ्रीकन साहित्य, दलित साहित्य आदि ने भी इसी मार्ग पर चलने का प्रयास किया है। इसलिए हम स्पष्ट रूप से कह सकते है कि भाषा के संकल्प और सहित्य के संकल्प एक ही है।

(2011)

11. नवजागरण जब दलित लिखता है

14वीं शती में इटली में तथा 15वीं शती में यूरोप में हुए नवजागरण के आधार पर भारत के नवजागरण को नहीं देखा जा सकता है। पाश्चात्य नवजागरण का एक ग्रीक लैटिन स्वाभाव था। लेकिन भारतीय नवजागरण में आधुनिकता (Modernisation) का भाव था, स्पष्ट रूप से कहे तो धर्म की आधुनिकता पर बल दिया गया था। क्योंकि भारतीय जनता वर्णाश्रम में बंधी थे। लेकिन पाश्चात्य आधुनिकता मूल्य ही भारतीय नवजागरण का आधार बने। भारत में नवगाजरण एक अर्थ में पाश्चात्यीकरण (Westernisation) की प्रक्रिया थी। पाश्चात्यीकरण एक समावेश की प्रक्रिया है तथा पाश्चात्यी उपनिवेश अधिकार जताने की प्रक्रिया है। हमारे नेताओं में अधिकतर संख्या यूरोप से शिक्षा दीक्षित तथा पाश्चात्य मूल्यों की सृष्टि है। इटालियन नवजागरण में ह्युमानिसम की परिधि में सामान्य जनता नहीं है। उसमें पंडित तथा उन्नत कुल के लोग शामिल थे। उस नवजागरण का प्रथम लक्ष्य था इन उन्नत कुल जाति के लोगों की ही उन्नति। पाश्चिम में शिक्षित लोगों की सबसे बड़ी समस्या यह थी कि भारत में धर्म तथा आधुनिक ज़िन्दगी का एक साथ चलना असम्भव है। दूसरी समस्या देशीयता की नयी अवधारणा की थी। ब्रिटिश विरोधी मानसिकता तथा उसका प्रधिरोध भारत के भौतिक यथार्थ के निर्माण का आधार बना। उससे पहले जब राजा-महाराजाओं के समय में धार्मिक एवं प्रादेशिक बोध ही आधार था। वेद, इतिहास, पुराण तथा धार्मिक ग्रन्थ ही प्रशासन का मुख्य आधार थे। दरअसल आधुनिक भारत के निर्माण में विज्ञान की परंपरा का कोई योगदान नहीं है। भारतीय वैज्ञानिक परंपरा में केवल बुद्ध एकमात्र एक व्यक्ति है, जिन्होंने समता की अवधारणा को स्वीकार किया। किन्तु भारतीय संपन्न सवर्णों के बीच बुद्ध और उनके आशयों का कोई स्थान नहीं है। क्योंकि बौद्ध धर्म के अनुसार जीवन व्रत तथा अनुष्ठान है, न कि आडम्बर। स्वयं बलिदान देने के लिए संपन्न वर्ग तैयार नहीं था।

राजाराम मोहन राय, ज्योतिराव फूले, गांधीजी, अम्बेडकर आदि पाश्चात्य आधुनिक शिक्षा रीति की परंपरा की श्रेणी में आते हैं। मोहन राय तथा केरल के अन्य प्रमुख व्यक्तियों ने अंग्रेजी शिक्षा लागू करने का प्रयास किया। वे अंग्रेजी शिक्षा इसलिए स्थापित करने का प्रयास कर रहे थे क्योंकि पाश्चात्य कोलोनियल मानसिकता के मानवीय मूल्यों और उनके कुछ आदर्शों को स्वीकार करना बुरी बात नहीं है। शूमाकर (Ernst Fritz Schumacher) को जर्मन फासिज़्म तथा ब्रिटिश कालोनियलिज़्म से अलग करके देखना चाहिए। शूमाकर की यह अंतर्विरोधी प्रवृत्ति उनकी पुस्तक 'बुद्धिस्ट इकोनॉमिस्ट' में दिखाई देती है, सन् 1955 में म्यांमार में पश्चात्य उन्नति के अम्बेसडर बनकर आये शूमाकर धीरे-धीरे बदलने लगे तथा उन्होंने स्थानीय आर्थिक नमूनों को सामने रखकर इस पुस्तक की रचना की। जॉन रस्किन, थॉमस पैन तथा जॉन ड्युई जैसे पश्चिमी विद्वानों ने भारत के भविष्य और भाग्य के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। ऐसे ही पश्चिम विद्वानों के प्रभाव से ही राजाराम मोहन राय जैसे भारतीय आंदोलनकारियों का भी जन्म हुआ है। भारत के भूतकाल मूल्य उसके आधुनिक मूल्यों के विरुद्ध थे। पाश्चात्य आदर्श शास्त्र आदि ग्रहण करने के बाद ही 1892 में विवेकानंद को केरल एक पागलखाने जैसा लगा। किन्तु केरल की जनता के लिए उनकी वह ज़िन्दगी स्वाभाविक थी। ज़िन्दगी को नए आयाम से देखने के कारण ही 18वीं और 19वीं शती में परिवर्तन को ज्ञानोदय (Enlightenment) कहा गया। एक तरह से व्यवहारिक आदर्श परिवर्तन (Paradigm shift)। भारत के निर्माण के कुछ और कारण भी है। गाँव से बड़ी मात्रा में जनता शहर में पलायन करने लगी, इसके कारण नए दल, मजदूरी, सामाजिक कार्यक्रम आदि उभरकर सामने आने लगे। अंग्रेजी की शिक्षा भी नए संघ के निर्माण का आधार बन गयी। इस तरह गाँव की सीमा लांघकर जनता ने एक सामूहिक सीमा का निर्माण किया वह है आधुनिक भारत। अर्थात् शहर के शिक्षित लोगों में नवजागरण का पहला स्पंदन हुआ। पल्पू से नारायण

गुरु में इसी ज्ञान का उदय हुआ। आधुनिक भारत के संकल्प में रामायण, पुराण, या इतिहास से कोई सम्बब्ध नहीं है। यह बहुत गहराई से पश्चमी संस्कृति से रूपायित है।

केरल में श्री नारायणा गुरु के अद्वैत दर्शन भारतीय अद्वैत दर्शन नहीं है बल्कि पाश्चात्य आदर्शो से निर्मित है। "शिक्षा से स्वंतंत्र होना, एकता से सशक्त बनना, व्यवसाय से अभिवृद्धि पाना, एक जाति एक धर्म एक मनुष्य, धर्म जो भी हो मनुष्य अच्छा हो, अनेक धर्म एक सार" आदि महावाक्य पाश्चात्य चिंतन का आशय है। भारतीय परंपरा में व्यवसाय कहाँ है? भारतीय संस्कृति ने शिक्षा-दीक्षा की नहीं बल्कि मोक्ष की बात कही है। 'मनुष्य' का संकल्प पाश्चात्य आशय 'ह्युमनिसम' से आया है। गुरु ने भी यूरोपीय संकल्प के आधार पर धर्म को देखा। पश्चिमी आधुनिकता का मुख्य तत्व है "संस्कृति को धर्म से अलग एवं युक्ति की दृष्टि से देखना"। 'Religion' का आशय भी यूरोपीय है, भारत में धर्म का संकल्प नहीं था। धर्म ने बुद्ध, जैनियों को भी हिंदुत्व के अंतर्गत लाने का प्रयास किया। तब से भारत में हिन्दू/अहिंदू का संकल्प जटिल होने लगा। भारतीय वर्ण व्यवस्था की सबसे बड़ी समस्या थी कि सवर्ण/अवर्ण/गोत्र विभाग आदि के धर्म का निर्धारण कैसे करें? धर्म जो भी हो लेकिन मनुष्य अच्छा हो आशय का संकल्प का आधार यूरोपीय आशय है।

इसका सबसे बड़ा प्रमाण राजाराम मोहन राय ही देते है। स्कॉटलैंड के अलाक्सांडर डफ़ को ईसाई धर्म प्रचार के लिए इन्होने करवाया था। राय की उपस्थिति में ही जुलाई 13.1830 में भारत के पहले मिशनरी स्कूल की स्थापना हुई, और यह भी स्पष्ट है कि नारायण गुरु के 'धर्मो में एकता' का संकल्प भी पश्चिमी आशय है।

सबसे बड़ी बात यह है कि पाश्चात्य धर्म प्रचार के पक्षपाती रहे वही राय ने भारत में 'एकता' की परिभाषा के रूप में 'हिन्दुयिसम' का प्रयोग किया। देश

की पहचान के निर्माण में जो अन्वेषण संपन्न सवर्ण वर्ग द्वारा हुआ है, वही बाद में धर्म के नवगारण का आधार बना।

पाश्चात्य नवजागरण की आधुनिक धारा ने दो तरह से भारत में जन्म लिया, एक हिन्दुयिसम के नाम से राजाराम मोहन राय तथा सवर्णों के द्वारा रूपित धार्मिक पुनर्जागरण धारा, दूसरी अब्राह्मण तेवन सामाजिक नीति पर आधारित ज्योति राव फूले, पेरियोर, इ.वी. रामास्वामी नायकर एवं नारायण गुरु द्वारा रूपायित धारा। किन्तु इनका विकास अलग नहीं बल्कि एक साथ हुआ है।

सवर्णों के जाति विरोध के पीछे सामाजिक नीति की चिंता नहीं थी बल्कि उनको पता था कि भारत में धर्म का आधुनिकीकरण, पश्चिमीकरण एवं विदेशों के अधिकार के खिलाफ देशीयता के निर्माण में जाति एक बाधा है। वे लोग नहीं सोच रहे थे कि जाति अपने आप एक अनीति है। यहाँ तक गांधीजी ने भी अस्पृश्यता के कारण जाति व्यवस्था का विरोध किया। 'राइटिंग ऑफ़ सोशल हिस्ट्री' में सुमित सर्कार कहते हैं- "जाति व्यवस्था का इसलिए विरोध हुआ था कि वह देशीय एकता तथा सवर्ण जाती की उन्नति केलिए समस्या बनती है।"

किन्तु फूले की विचारधारा इनसे अलग थी। अमेरिकी स्वतंत्रता संग्राम के नेता थोमस पैन की 'मानवाधिकार' नमक पुस्तक ने फूले पर अधिक प्रभाव डाला। आपने जीवन भर दमित स्त्रियों को 'मनुष्य' की श्रेणी में लाने के लिए उनकी उन्नति के लिए प्रयास करते रहे। पाश्चात्य शिक्षा को स्वीकार करने से प्राथमिक शिक्षा के आशय पर उन्होंने ज़ोर दिया। ब्रिटिश व्यवस्था का साथ देकर वे कभी भी मानवता के विरुद्ध नहीं गए। सत्यान्वेषण, युक्तिवाद, शास्त्रबोध आदि पाश्चात्य अवधारणाओं से उन्होंने शूद्रों को दमितों की श्रेणी से मुक्त किया।

आधुनिक नवजागरण की एक और मुख्य विशेषता थी ईश्वर का तिरस्कार। 16 वीं शती में रेनेदेकार्थ एवं फ्रांसिस बेकन द्वारा शुरू किये गये युक्तिबोध एवं शास्त्रीयता के विकास का अंतिम पड़ाव है 'नीत्शेवियन' तत्वशास्त्र। नीत्शे अपनी कृति 'Gay Science' में 'ईश्वर की मृत्यु' का आह्वान करते हैं। 1900 में नीत्शे की मृत्यु हुई, किन्तु भगवान आज भी जीवित है। आधुनिकता ने मनुष्य नामक उस महान प्रतिभास को अजेय बनाया। ईश्वर से मनुष्य की मुक्ति से तात्पर्य सामजिक विकास एवं परिवर्तन के इतिहास में मनुष्य को स्थापित करना है। मलयालम के नवजागरण लेखक तकषी, देव आदि ने मानव को सामजिक इतिहास का हिस्सा बनाने का प्रयत्न किया है। नारायण गुरु ने ईश्वर का वध नहीं, परिभाषा दी है। अरुविप्पुरम में शिव प्रतिष्ठा द्वारा उन्होंने यह स्थापित किया कि भगवान सिर्फ पत्थर है। दैव दलित भी हो सकता और मनुष्य के लिए एक ही भगवान है। आखिर उन्होने यह भी जोड़ा ईश्वर सिर्फ मनुष्य की इच्छा से निर्मित है। एक स्वतंत्र व्यक्ति को इन सबकी आवश्यकता नहीं है। बाद में दैव में मानवता ढूंढने के गुरु का आदर्श सहोदरन अय्यप्पन के आशयों की भी आधार शिला बनी। मंदिर के स्थान पर विद्यालय और पुस्तकालय की स्थापना करने का आह्वान इसी मानवतावादी व्यवस्था से उत्पन्न आशय है। वी.टी. का कहना है- "एक मंदिर के जलने से अंधविश्वास भी उतना कम हो जाता है", इ.वी रामस्वामी कहते है- "वैक्कतप्पन (वैकम नामक जगह शिव की प्रतिष्ठा) सिर्फ एक पत्थर है वह कपडे धुलने में काम आता है।" मानविकता पर यह चिंता तथा अंधविश्वास का विरोध उत्तर भारत के भक्त कवियों में पहले से ही दिखायी देता है, कबीर और उनकी रचनाएँ इसका उदाहण है।

"पुण्य स्थल का स्नान जल केवल पानी मात्र है, उसका कोई उपयोग नहीं है, मैं उसमें नहाया हूँ। सारे बिम्ब निर्जीव है, वे बोल नहीं पाते हैं, क्योंकि मैं उनके सामने जोर से रोया हूँ।" केवल आध्यामिक क्षेत्र में हुए इस समता के

संकल्प को भौतिक जीवन में लाने का काल मुख्य रूप से नवागारण काल में हुआ। आधुनिक जीवन की अवधारणा तथा अन्य परिष्कार ने मुख्य रूप से दलित जीवन की उन्नति पर ही अधिक बल दिया। ईस्ट इंडिया कंपनी के भूनियम, नीति व्यवस्था, समता का नियम, गुलामी का विरोध आदि सब इसी परिष्कार का प्रमाण है। जिस तरह मुद्रण ने 'आम स्थलों' का निर्माण किया वैसे सार्वजनिक नियम और अनेक व्यवसाय शालाओं ने 'सार्वजनिक ज़मीन' का निर्माण किया। इस तरह आधुनिकता ने हेबर मास के शब्दों में 'Unfinished Project' बनकर अपनी यात्रा जारी की। इसी उदार पाश्चात्य की पृष्ठभूमि में ही मलयालम के 'अंग्रेजी प्रभाव का मग्नाकार्ट' इन्दुलेखा (उपन्यास) ने कोलोनियल ईसाईयत की अवधारणाओं का तिरस्कार कर ज़िन्दगी की सच्चाई का बयान किया। आधुनिकता की ओर जाने के लिए एक और महत्वपूर्ण परिवर्तन था धर्म परिवर्तन। जाति व्यवस्था की बुराइओं से बचने का एक मार्ग था धर्म परिवर्तन। भारत में देशीयता का आधार था हिंदुत्व का निर्माण। हिन्दू से तात्पर्य मुस्लिम, ईसाई से अलग एक पहचान का निर्माण था। हिंदुत्व का भौतिक रूप संभव नहीं था, क्योंकि वह जाति व्यवस्था से शिथिल था। वास्तव में नवजागरण काल में हिंदुत्व को देशीयता से जोड़ने का प्रयास भी था। इसलिए स्वाभाविक रूप से हिन्दू-भारतीय देशीयता के बिना दलितों के ऊपर राष्ट्रस्वरुप की भांति अधिकार जताता रहा। इसी तरह दलितों को खुद के धर्म और देश में अपनी पहचान स्थापित करने के लिए सदा युद्‌ध करना पड़ा। अम्बेडकर उस जहाज के वाहक थे जिन लोगों का कोई देश नहीं। जब ब्राह्मणों के अधिकार पर विभिन्न मुस्लिम शासक एवं विदेशी शक्तियों द्‌वारा सवाल उठने लगे तब ब्राह्मणवादी सवर्ण देशीयवाद को लेकर बाहर आने लगा। भारत में देश का संकल्प शूद्र-अवर्ण-आदिवासी विभाग के समता और सामजिक नीति का आधार नहीं बना था। वे आज भी ज़मीन के लिए युद्‌ध कर रहे है। कुछ भू-रहितों के ऊपर देश ने देशीय जानवर देशीय पक्षी राष्ट्रपिता आदि को प्रतिष्ठित करने

लगे। ब्राह्मण प्रत्ययवाद देशीयता का जब रूप धारण करने लगा उस सन्दर्भ में उसके प्रतिरोध करते हुए अब्राह्मण दमित विभाग धर्म परिवर्तन को अपना हथियार बनाने लगा। अय्यांकाली, अम्बेडकर आदि नेताओंने धर्म परिवर्तन को अपना राष्ट्रीय प्रत्ययशास्त्र बनाया। 1953 में स्वयं बौद्ध धर्म में परिवर्तिक होकर अम्बेडकर ने या स्थापित करने का प्रयास किया कि, एक धर्म निरपेक्ष देश की बुनियाद जितना धर्म बहिष्कार की स्वतंत्रता है, उतना धर्म परिवर्तन का अधिकार भी है। धर्म और देश के बीच में कोई अंतर न रहने के कारण हिन्दू नेताओं में अंतर-विरोधों का संघर्ष नहीं था। किन्तु एक सच्चाई यह है हिन्दू देशीयता या फासिस्ट मानसिकता तथा पाश्चात्य सर्कुलर संकल्प के संघर्ष परिणाम हैं शहीद गांधीजी। उनके सीने को चीरने वाले बन्दूक की आवाज़ में भारत को सवर्ण हिन्दू राष्ट्र उद्घोषित करने की चेष्टा थी।

सामाजिक परिवर्तन एवं सामुदायिकता के लिए अपनी पूरी ज़िन्दगी अर्पित करने वाले फूले जैसे व्यक्तियों के प्रयत्न पश्चिमी आधुनिकता, युक्तिबोध एवं समता की पृष्ठभूमि थी। किन्तु सवर्ण नवजागरण धारा हिंदुत्व की देशीयता के निर्माण के रूप में स्वयं परिणित हुआ। नवजागरण का सबसे बड़ा सन्देश है देश के बाहर नहीं बल्कि देश के अन्दर धर्म को परिभाषित करना चाहिए।

(2011)

12. धरती के अधिकारी

मनुस्मृति के अनुसार जो पहले वृक्ष काटता है वह धरती का अधिकारी है, यह ग्रन्थ कृषि सम्बन्धी उपनिवेश का प्रमाण भी है। सियातिन गोत्र नायक के शब्दों में यह स्पष्ट होता है कि ज़मीन पर अधिकार पाने के पीछे का आर्थिक लाभ से आदिवासी कितना अपरिचित है। 'तुम कैसे आकाश और मिट्टी के निर्मलता का व्यापर करते हो। वायु का चैतन्य जल का चमक हमने प्रदान नहीं की फिर तुम उसको कैसे अपना सकते हो? जिनको धरती से अस्पृश्य बनाया और जिन्होंने भूमि को अपनाया है वे उनसे ज्यादा प्रकृति और धरती को जानते हैं। वे इस आधुनिकता के बीच में कहाँ बर्बाद हो रहा है।'

उपनिवेश की ज़मीन से जिन आम लोगों को निकला गया शायद वही केरल के पहले मजदूर वर्ग हैं। उनको गाँव से निकाला गया ज़मीन के मालिक बनने से भ्रष्ट किया गया। सिर्फ वर्णों से ही नहीं गाँवों से भी इनका बहिष्कार किया गया। अवर्ण एवं अन्त्यज बन गये। निश्चित एवं हीन वृत्ति करने के लिए मजबूर किया गया। इनकी सृष्टि वर्ग के अनुसार नहीं वर्ण के अनुसार किया गया है। इतिहास के अनुसार 5 ईसा पूर्व में ही भविष्यवाणी हुई थी कि भारत में ऐसी स्थिति होगी जहाँ एक ही समाज पर सांस्कृतिक रूप से मनुष्य को अलग किया जायेगा। वर्ग चरित्र निर्मिती की यांत्रिकता कभी एक बड़े जनविभाग की स्थिति का विशकलन नहीं किया। उत्पादन सम्बन्ध प्राकृत होने लगा तथा जातीय वृत्ति में दलित जनता को सीमित किया गया। इस दलित जनता से ही केरल के मजदूरों का इतिहास का आरम्भ करना चाहिए। किन्तु सर्व स्वीकृत सामजिक संज्ञा में जातीय वृत्ति के आधार पर मजदूर एवं दलित का उल्लेख किया गया। जन्म से या आचार से विभाजित मजदूर की जाति और मजदूरों का वर्गीय विवेचन विश्लेषण सामाजिकता के अनुसार अलग है। केरल के इतिहास में मजदूर हमेशा एक जाति के थे। मलयालम भाषी उपन्यासकार तकषी के

'रंडिडंगषी' (उपन्यास) केरल के मजदूरों का दयनीय चित्र देता है। किन्तु एक वर्ग में विभाजित होने का कारण कभी साहित्य के इतिहास में चित्रित नहीं है यानि जाति और वर्ग को विभाजित करने वाले वास्तविकता का नज़रंदाज़ किया गया है।

पुलयर, परयर जैसे दलित मजदूर ही केरल की कृषक शक्ति थी। चावल की खेती 90 प्रतिशत पुलयर करते थे। वार्ड (मालाबार मैन्युअल) कोणर (1820 सर्वे मेमोरियल) विलियम लोगन (मालाबार मैन्युअल) आदि का कहना है सवर्णों की पूरी खेती पूरी गुलाम बनकर पुलयन वर्ग ने की थी। इन गुलामों को क्रय-विक्रय का साधन माना गया। इरफ़ान हबीब का कहते है (Peasents in Indian History) आसानी से मजदूरी मिलने का एक घटक के रूप में जाति मानी गयी, और इन मजदूरों को गुलाम बनाया गया और इनको नियंत्रण में करने लगे। इन्हीं मजदूर का मिट्टी के तथा शारीरिक प्रयत्न के साथ अटूट सम्बन्ध था। किन्तु केरलीय सवर्ण का जातिवाद उस हद तक था कि श्रम करना भी अपमान समझा गया। केरल के कृषि सम्बन्धी इतिहास ने कभी किसान का श्रम नहीं देखा, क्योंकि अगर ऐसा होता तो इन्हीं मजदूरों से आधुनिक कृषक समूह और संस्कृति का निर्माण होता। किसान न होने के कारण दलित कभी ज़मीन का मालिक भी नहीं बन सके। 'भूपरिष्करण नियम' ईषव जाति (दलित जाति जिनका स्थान अन्य दलितों से ऊपर था) के दलितों को ज़मीन रखने का अधिकार दिया गया। जो बाकी लोगों द्वारा उपेक्षित है उस भूमि को दलित को दिया गया।

कुछ ज़मींदार ऐसे थे जिनको खुद मालूम नहीं था कि उनकी ज़मीन कहाँ है और उस ज़मीन में कौन काम कर रहा है। नायर जाति (केरल के एक सवर्ण जाति) के कुछ लोगों का मानना था कि शारीरिक श्रम निन्दात्मक है। 'मनिप्रवालम' (जिसको मलयालम का पहला ग्रन्थ माना जाता है) के श्रृंगार केरल के ब्राह्मणों के भोग और नायर के मिथ्याभिमान का प्रमाण देता है।

ईषवों को ज़मीन का मालिक बनने का अधिकार था (एड्गारथेर्सन लिखते है, इनके बीच धनिक भी थे)। वे विशेषकर नारियल पेड़ों का पालन करते है और उससे पैसा कमाते है। इस से यह स्पष्ट होता है कि जो श्रमिक है मिट्टी से जुड़े है उनको केवल जाति की दृष्टि से ही देखा जाता था।

भारत में सामजिक जीवन मुख्य रूप से वर्ण एवं जाति व्यवस्था के आधार पर निर्मित है। इसको जन्म के विरुद्ध व्यवस्था का बाह्य रूप से हमने वर्ग सिद्धांतों से विश्लेषण किया है। किन्तु धरती का अधिकार उस विभाग को दिया गया है जिनका कृषि से कोई सम्बन्ध नहीं है। एरिकहोब्स्वोम ज़मींदार के चरित्र का विश्लेषण करते हुए ज़मीन का केवल बिक्री की चीज़ बनने के बारे में कहते है (On History)। श्रमिक को हमेशा ज़मीन से मिटाया जाता है।

वर्तमान कृषि सम्बन्धी अध्ययन से और भी वास्तविकता बाहर आई है। केरल में खेती और उत्पादन यहाँ की ज़मीन के अनुसार बहुत कम होता है, यानि करीब 25 प्रतिशत। इसका कारण केवल स्थल और जल के संचालन की कमी नहीं है, यहाँ ज़मीन पर की जाने वाले मेहनत की कमी भी है। प्रतिफल के बढ़ाव के अनुसार श्रम नहीं कर रहे है। बड़े ज़मीनी क्षेत्र को रेगिस्थान बना दिए हैं। लोगों की आजीविका अब कृषि नहीं रही। सबसे बड़ी बात यह है कि आज शारीरिक श्रम का महत्व कम होता जा रहा है (डॉ. एम्.पी. परमेश्वरन)।

इस सत्य के बीचे अनेक आर्थिक कारण है। लेकिन श्रम से सम्बंधित जातीय प्रत्ययशास्त्र भी प्रबल रूप से इसके पीछे है। जब श्रम के क्षेत्र से दलित निकल जाते है वह स्थान हमेशा के लिए खाली रह जाता है। जन्म से ही ज्ञान प्राप्त करने वाले ब्राह्मण समूह प्रकृति को उत्पादन की दृष्टि से नहीं बल्कि उपभोग की दृष्टि से देखते थे। वृक्ष, फल आदि के उपभोग के आधार पर ब्राह्मणों ने ज्ञान शास्त्र एवं प्रपंच शास्त्र का निर्माण किया। उनके लिए भौतिक लोक उत्पादन से परे एक दिव्य लोक था। इस लिए वे प्रकृति से अन्य हो गए।

ब्राहमण दर्शन ने स्वयं को परलोक और मोक्ष पर अर्पित करके भौतिक जीवन और वास्तविक दुःख का उपहास किया। उनके हाथ हमेशा पूजा करने में व्यस्त हो गए। ब्राहमण शब्द का एक अर्थ है 'भूदेव'। किन्तु देव धरती पर अपना कदम नहीं रखते हैं। इसी अवधारणा के आधार पर ब्राहमण ज्ञानशास्त्र रूप से धरती से दूर हो गए। सवर्ण ज्ञान शास्त्र का आधार ब्राहमणवाद है। जो लोग ज़मीन का कब्ज़ा करते है इसी जन्म लब्ध अधिकार की मिथ्या अवधारणा के अनुसार ही करते है। इस आत्मस्तुति का उदाहरण है परशुराम और केरल के निर्माण की कथा, और शिव के स्वयंभू मूर्ति आदि। यह वास्तव में उपयोग का प्रत्ययशास्त्र है। बाद का केरलीय समाज उत्पादक से अधिक पूरी तरह से हावी होने पर जोर देते है, इसके कारण अन्वेषण हमारा ही उत्तरदायित्व है।

लोकायत और बौद्ध चिन्तक पहले से ही परलोक दर्शन की अवधारणा का तिरस्कार करते है। दलितों का ज्ञान उत्पादन शास्त्र के आधार पर है। उनको पता है कौन सी ऋतू में कौन सी फसल होती है किस तरह मिट्टी के साथ श्रम करना है, इसी आधार पर उन लोगों ने भौतिक संसार को भी समझने की कोशिश की। किन्तु ये अवधारणाएँ मुख्यधारा से अन्य हो गए। क्योंकि वह उत्पादन रहित ब्राहमणों के विरुद्ध थे। पुलयन शब्द के 'पुला' का अर्थ खेत है। लेकिन उस बात से उनको कभी इज्ज़त नहीं मिली न वह बना सके। सवर्णों के उत्पादन विरुद्ध प्रत्ययशास्त्र का प्रभुत्व ने उसको उपेक्षा तथा अपकर्षता की कीचड़ में डुबो दिया। 36 बार क्षेत्र (खेत) के बारे में कहने वाले ऋग्वेद भी प्रयोगिक स्तर में पराजित है।

श्रमिकों में भौतिक संसार की पुनर्स्थापना के ज्ञानशास्त्र दलितों को ज़मीन का स्वामी बनाता है। इतिहास रूप से सवर्णों ने अपने मन में भी मेहनत के बारे में सोचा भी नहीं है। शायद वह विदेश में जाकर मजबूर होकर कर सकते है। शारीरिक श्रम आज केरल में सिर्फ तमिल लोगों द्वारा करने वाली हीन वृत्ति बन गयी (उनको दलितों की छाया भी दी गयी)। सवर्णों ने श्रम करना गुलामी

समझा। ब्राह्मणवाद ने कर्म को नहीं ज्ञान को अपने मार्ग के रूप में स्वीकार किया। जिस कर्म मार्ग का 'गीता' में प्रतिपादन है वह भी धरती से सम्बंधित उत्पदान मार्ग नहीं है। किन्तु ज्ञान मार्ग केवल निष्क्रिय है। श्रम शारीरिक कार्य है, किन्तु जो प्रभुत्व शरीर के ऊपर बुद्धि ने स्थापित करता है वह केवल साहित्य में सवर्णाधिकार के उपनिवेश का प्रमाण है। लेकिन Culture शब्द एग्रीकल्चर से सम्बंधित होने के कारण जिस कृषि सम्बन्धी भौतिक जीवन का तिरस्कार सवर्ण करते है वह आधार रहित बन जाता है। केरल में कृषि का अर्थ 'पुलयन' माना गया, अर्थात श्रम करना दलित-मुद्रा बन गया।

सवर्ण सौन्दर्यशास्त्र (वह स्निग्द्ध श्रम विरुद्ध और धवल रंग का है) द्वारा रचित मलयालम साहित्य ने भी श्रम का तिरस्कार किया गया है। एक 'अच्छी धरती' का निर्माण भी मलयाली नहीं कर पाए। बाद में केवल 'रंडिडन्गषी' में जैसे पुलयन का मजदूर रूप, 'विषकन्यका' में चित्रित कृषक की आसक्ति, ज़मींदारों के विरोध करने वाले 'मन्निंटे मारिल' (मिट्टी के सीने में), जैसी कृतियों की सृष्टि ही मलयालम साहित्य कर पाया। केरल की सामाजिक व्यवस्था में श्रम जातीय है। सिर्फ मजदूरों के इतिहास विश्लेषण से ही उनसे सम्बंधित संस्कारिक धारा का विकास हो सकता है। तब तक यह भूमि यह मिट्टी बंजर ही रहेगी।

(2000)

13. केरल में जाति एक बयान

ए.आल. बषाम अपनी पुस्तक “A Cultural History of India” में भारतीय लोकतांत्रिकता पर एक प्रस्तावना करते है :

“भारतीय जीवन मुख्य रूप से व्यक्तिगत मोक्ष दर्शन के आधार पर था। यह हिन्दुत्व की बुनियादी अवधारणा है। आत्मा और ब्रह्मा का सम्बन्ध इसका प्रमेय केंद्र है। इसी दार्शनिकता के आधार पर आधुनिक भारतीय व्यक्तिबोध का भी विकास हुआ। भारत कोई अन्य ब्रिटिश कोलोनिअल देश नहीं है। यहाँ लोकतांत्रिक व्यवस्था में भी लोग अपना वोट रहस्य रूप से देते है (एक तरह का मोक्ष मार्ग का निर्णय), इसके पीछे भी किसी व्यक्ति मोक्ष की अवधारण ही शायद होगी।”

लोकतंत्र के पचास साल होने बाद इस सत्य का पता चलना कि सवर्ण व्यवस्था के आधार पर ही हमारा शासन व्यवस्थ है, यह आश्चर्य की बात नहीं है। यह इतिहास महज अद्भुत की बात है। वास्तव में हम प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से केवल लोकतंत्र का नहीं जाति-व्यवस्था का भी अनुष्ठान करते रहे। भारत में आर्थिक प्रक्रिया जैसे सामाजिक विकास के समस्त क्षेत्र की आतंरिक एवं बाहय घटना का मुख्य अंग जाति है, यह केवल ऊपरी सतह से नहीं है। सामंतवाद जाति का आर्थिक आधार नहीं था, बल्कि जाति के आधार पर उत्पादन व्यवस्था का विकास हुआ। इसलिए ही केरल में सामंतवाद ख़त्म होने के बाद भी जाति-व्यवस्था जारी रही। जाति को केवल सोपानबद्ध (hyrarchial) रूप में ही देखा जा सकता है। वर्ण एवं जाति का संरक्षण करना ही हमेशा शासन व्यवस्था का उत्तरदायित्व माना गया। वाल्मीकि रामायण में राम भरत से पूछते है “हमारे अयोध्या में ब्राहमण, क्षत्रिय, और वैश्य बहुत है, उस अयोध्या का तुम संरक्षण करोगे ना? (रामायण 2, 100, 42)।

धर्म का बोध केवल एक काल में निर्मित होने वाला आशय नहीं है, बहुकाल के आशयों को एवं अवधारणाओं का संग्रह है। यह आशय कभी कभी अंतर्विरुद्ध हो सकता है। ब्राह्मण, वेद, पुराण, उपनिषद, इतिहास आदि हिन्दू धर्म को और सबल बनाते है। किन्तु वर्तामान काल में भारत में हिन्दू धर्म पूर्ण नहीं होने का कारण जाति है। कहानियों से लेकर इतिहास तक जाति पर आधारित है। इसलिए हिन्दू धर्म में जाति-व्यवस्था का तिरस्कार करना या निशब्द कराना संभव नहीं है।

जाति रहित हिन्दू धर्म का सपना देखना इतिहास बोध न होने का प्रमाण है। जैसे मुस्लिम वर्ग कहता है, भारत की मुक्ति इस्लाम द्वारा हुई है, उस तरह बिना जाति का हिंदू केवल शून्य से उत्पन्न होने वाले मिथ्याभ्रम हैं।

भारत में देशीयता धर्म के आधार पर निर्मित है। हिन्दू, बौद्ध,मुस्लिम आदि धर्मों का समन्वय करके ही हमारे राष्ट्रीय ध्वज का भी संकल्प हुआ है। देशीय स्वतंत्रता आन्दोलन भी इसी दृष्टि का अवलंबन है। इसलिए कोलोनिअल विरुद्ध हुई हड़ताल और आशयों को हमने देशीयता माना। इसी अर्थ में राजाराम मोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर आदि भारतीय नवजागरण के नायक बने थे। उसी समय हिन्दू धर्म के अन्दर हो रहे सामाजिक और जातीय दमन को पहचानकर उसके विरुद्ध दिन-रात लड़े ज्योतिराव फूले जैसे महानव्यक्तियों को हम नायकों की श्रेणी में नहीं रखने का कारण भी यही धार्मिक इतिहासबोध है।

हमारे देश में संविधान के संरक्षण के अलावा दलितों का संरक्षण महत्वपूर्ण नहीं था, उनका स्थान गाँव के बाहर था। स्वतंत्रता के साठ साल होने के बाद भी उस मानसिकता में कोई परिवर्तन नहीं आया है। एशियन ऐज 2005 में एक रिपोर्ट प्रकाशित हुई थी जिसमें उत्तर प्रदेश के इटावा जिले के मरिया ब्लॉक में पंचायती चुनाव में चुनी गयी एक दलित स्त्री को सवर्णों ने शपथ लेकर अधिकार पर बैठने नहीं दिया। लोकतंत्र को आतंरिक रूप से सवर्ण स्वीकार नहीं

कर पा रहे है। आज भी भारत में दलित स्त्रियों का बलात्कार करना सवर्णों का अधिकार माना जाता है।

राजस्थान में एक दलित की नाक सुई-धागा से सिलने की खबर भी एशियन ऐज (13-10-2006) ने रिपोर्ट प्रकाशित की थी तथा मंदिर गए दलित से फाइन लेने वाली घटना को भी रिपोर्ट किया था (Asian Age 17-12-2005)।

दलित स्त्री को सवर्णों द्वारा जला दिया जाता है (Pioneer 16-10-2006)। किन्तु सबसे दुःख की और चौंकाने वाली बात यह थी कि इन घटनाओं में पुलिस और शासक वर्ग का भी अप्रत्यक्ष हाथ था। स्टेट की भी राय है कि इन आक्रमणों के शिकार बनने वाले दूसरे दर्जे के यह अप्रधान नागरिक है। किन्तु वास्तविकता यह थी कि दलितों को कभी अधिकार पर बैठने नहीं दिया है।

भारत की 17 प्रतिशत दलित जनता 82 प्रतिशत गाँवों में बसने वाली है। उनमें केवल 30 प्रतिशत साक्षर है। 75% खेती-बाड़ी का काम करते है। भारत की आबादी में 33.30 प्रतिशत गरीबी रेखा के नीचे है और दलितों में 47.7% गरीबी रेखा के नीचे है (1997-98 National Commission for SC, ST Report)। किन्तु ज़मीन का बँटवारा कृषि के विपरीत है, क्योंकि ज़्यादातर ज़मीन सवर्णों का अधिकार में है। सेवा क्षेत्र की भूमिका क्या है?

सरकारी क्षेत्र (1995नके रपट के अनुसार)

Group A	10.15%
Group B	16.67%
Group C	16.15%
Sweepers	44.34%

बैंकिंग क्षेत्र में (सार्वजनिक क्षेत्र)

Officers	11.11%
Clerks	14.69%
Sub Staff	2849%

(National commission report 1996)

न्यायाधीश, अपर न्यायाधीश विभाग हाई कोर्ट में SC 1993 में 2.38% था किन्तु ST 1% भी नहीं है।

रेलवे में

Group A	15.12%
Group B	14.3%
Group C	14.36%
Group D	15.51%

सफाई वाला 62.85%

(Indian labor year book 2001)

इन आंकड़ों से यह मालूम पड़ता है कि मुख्य दफ्तरों में अफसरों की जगह दलितों की संख्या बहुत कम है तथा स्वीपर, प्यून और महतर जैसे निम्न स्तर के पदों में दलितों की भर्ती अधिक होती है। महतर के काम का पूरा प्रतिशत केवल दलित वर्ग के लिए रखा गया है (अमूदन से इंटरव्यू /मध्यमं (पत्रिका) नवं: 10)।

महतर की जब बारी आती है तो उधर नौकरी की प्राप्यता की संभावनाएँ सवर्णों को परेशान नहीं करती है, समाज में ऐसी मानसिकता पैदा हो गयी है निम्न स्तर के कार्य केवल दलितों को ही करना चाहिए। लोकतांत्रिक भारत में इस सत्य का एक और मुख है। 50% से अधिक दलित किसान भूमिहीन है। उनमें से एक बड़ा हिस्सा सेक्स वर्कर का है और भारत में भूख और गरीबी के कारण मरने वाले लोगों में से 90% दलित है। व्यापर के क्षेत्र में या अन्य गैर सरकारी क्षेत्र में उनके लिए कोई आरक्षण नहीं है। बड़े प्रतिभूति बाज़ार में भी दलितों की उपस्थिति आज नहीं के बराबर है।

भारत की इन कड़वी वस्तविकताओं के बीच ही इसी सन्दर्भ में मेडिकल विद्यार्थियों के सवर्ण समर भी होता है और अदालत में आराक्षण विरोधी नियमों का निर्माण भी होता है। दलितों में क्रीमीलेयर वर्ग को विभाजित करने का अर्थ क्या है, उनमें से अधिक दलित और कम दलित का विभाजन कैसे संभव है? राष्ट्रपति के.आर. नारायणन का नाम लेकर जो लोग कहते है भारत में दलितों का देश निर्मित हो रहा है वह लोग सबसे बड़े मूर्ख है तथा वे वास्तविकता से कोसों दूर है। भारत में इंदिरा गाँधी जैसे सशक्त नारी अधिकार पर बैठने के बाद भी स्त्रियों की अवस्था में कोई बदलाव नहीं आया है। के.आर नारायणन ने दलितों का नहीं कांग्रेस का प्रतिनिधित्व किया तथा उसी तरह इंदिरा गाँधी ने भी स्त्रियों की नहीं बल्कि कांग्रेस की प्रतिनिधी थीं। इसलिए दलितों-दमितों, और स्त्रियों की समस्या के लिए वहां कोई स्थान नहीं था। जब भारत में स्त्रियों को 33% आरक्षण दिया गया है उस पर यह सवाल उठता है कि, क्या यह आरक्षण उन अबला नारियों और उनकी स्वत्तन्त्रता के लिए है या पितृसत्तात्मक राष्ट्रीय दल के सरंक्षण करने वाली स्त्रियों के लिए है? वह किसका संरक्षण करेंगे?

स्वतंत्रता के साठ साल पूरे होने के बाद भी जैसे पहले बषाम ने सवर्ण व्यवस्था को उल्लिखित किया तथा वह समाज में आज भी जीवित है। 'मैं पहले

एक ब्राह्मण हूँ फिर हिन्दू और बाद में एक मक्स्र्वादी हूँ', 2006 में भी अगर बांग्ला मुख्यमंत्री इस तरह कह सकते है तो वह स्वयं प्रकाशन का उदहारण है।

केरल की स्थिति भी भारत के अन्य राज्यों से अलग नहीं है। आरक्षण के सम्बन्ध में और सवर्ण मूल्यों के सम्बन्ध में केरलीय समाज भी वही सार्वजनिक सवर्ण-बोध का शिकार है। समाज वास्तविकता को नहीं बल्कि वास्तविकता से सम्बंधित सार्वजनिक अभिप्राय को महत्व देता है। दलितों के बारे में आज लोगों की राय अलग हो गई है आरक्षण की वजह से वे लोग सुखी बन सके 'पढ़ाई ख़त्म होने के तुरंत बाद नौकरी' इत्यादि, इस गलत समाचार का प्रचार करने वाले भी बहुत है। केरल के बेरोजगारों के आंकड़ें देखें :

"आंकड़ों के अनुसार 2006 मार्च 31 तक केरल के विभिन्न एम्प्लॉयमेंट एक्सचेंज में 37,93,183 लोगों ने पंचीकरण किया हैं। उनमें 5,37,292 दलित समुदाय के हैं (14%)। एस.टी. समुदाय के 30,900 लोग (मातृभूमि पत्रिका)।" यह सिर्फ आंकड़ों में शामिल लोग है, इसके बाहर भी बहुत से ऐसे लोग होंगे जिनका नाम लिस्ट में नहीं है तथा जो अशिक्षित है। सरकार की भी यही राय है।

आंकड़ों के अनुसार 11500 दलित कोलोनियाँ केरल में है (के.के.कोच, मध्यमं)। इनमें प्राथमिक सुविधाएँ भी बहुत कम है। अरब देशों में गए दलितों की भी संख्या केवल नाममात्र की है। बड़े व्यवसाय क्षेत्रों में या गैर-सरकारी क्षेत्रों में बड़े पदों में भी दलित नहीं हैं। 58% दलित जनता खेती-बाड़ी का काम करती है। वहाँ केवल 26% मजदूर हैं जो एस.सी नहीं है। अन्य क्षेत्रों में इनकी संख्या 3% है बाकी लोग 18% तक होते है।

ईषव (एक दलित जाति का नाम, OBC) जैसी जातियां केरल नवजागरण के द्वारा आर्थिक तथा जातीय रूप से सशक्त हो गयीं। शैक्षणिक संस्थान तथा

बड़े व्यवसायिक क्षेत्रों में इनकी उपथिति होने लगी, और दलों में विभाजित होकर SNDP, NSS जैसे संगठन अधिकार में आने लगे। आर्थिक रूप में प्रबल होने के बाद ही यह संभव हुआ है। मुस्लिम समूह तथा ईसाई समुदाय की शक्ति शासक वर्ग को भी नियंत्रण में रखने लगी। धर्म और धार्मिक मूल्यों को सामने रखकर वे लड़ने लगे, और इनका सही फायद राष्ट्रीय नेताओं ने उठाया। किन्तु दलित अपनी जाति को कल्चरल कैपिटल इकनोमिक कैपिटल बनाते हुए देखकर हमेशा वर्गवाद और जाति विरुद्धता के खिलाफ लड़ते रहे। लेकिन दलितों को कभी अधिकार मिला ही नहीं। 50 साल और उससे अधिक वर्ष वे अन्य राष्ट्रीय दल के साथ रहे उनके लिए लड़ते रहे। कई दलों ने इनकी मेहनत से बहुत कुछ हासिल किया, किन्तु आरक्षण से दलितों को अधिकारहीन पद ही दिए गए। इसके साथ आर्थिक रूप से बलहीन सवर्ण भी आरक्षण के लिए रोता रहा, इस तरह आरक्षण की सामाजिकता पर पानी मिलाने लगा। वास्तव में केरल में पहली बार आरक्षण की बात मलयाली मेमोरियल और ईषव मेमोरियल ने सामने रखी। लेकिन आज वैसा चांसलर आरक्षण को अनैतिक मान रहा है, इसके पीछे का कारण आरक्षण का मेरिट न होना है। आज भी केरल में एक भद्दा मज़ाक किया जाता है कि आरक्षण वाली युवती आठवाँ महीने में बच्चे को जन्म दे सकती है। आरक्षण सामाजिक-आर्थिक रूप से तुल्यता पाने का मार्ग है। किन्तु जैसे पहले आकड़ों द्वारा असमत्व का प्रमाण मिल गया है उस अवसर पर यह मुद्दा आगे भी एक सामजिक समस्या की तरह बना रहेगा। आर्थिक स्थिति का निर्णय समाज में स्थान और स्थिति आदि से होता है। क्योंकि एक दलित के बैंक मेनेजर बनने से दलितों की अवस्था में कोई बदलाव नहीं आने वाला है नाकि केरल की आर्थिक व्यवस्था में उसको समत्व मिलने वाला है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि कौन सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था का एजेंडा बनाते हैं, सामाजिक विकास में उनकी क्या भूमिका रहती है आदि। यह सवाल बहुत महत्वपूर्ण है कि केरल में 'भू-परिष्करण' नियम किसको इशारा

करता है? कोई गलती किये बिना एक ऐसी जनता अभी भी केरल में है जो अपनी पहचान को छुपाकर छुपके जी रही है।

केरल की जातीय संस्कृति के सन्दर्भ में 50 साल की लोकतांत्रिक व्यवस्था को दो हिस्सों में बांटना चाहिए :

1. आधुनिक प्रक्रिया अथवा कोलोनियल मॉडर्निटी और भौतिक सन्दर्भों में उसका प्रभाव तथा उसका लोकतांत्रिकता।
2. फ्यूडल व्यवस्थाओं से नवजागरण प्रक्रियाओं से बाद में मार्क्सवादी आन्दोलनों के द्वारा विकसित समता का बोध और उसका प्रभाव।

कोलोनियल मॉडर्निटी लोकतांत्रिक स्वाभाव समाज से मिटता जा रहा है। रेलवे स्टेशन, सिनेमा थिएटर, बाज़ार जैसे जगहों में जाति रहित व्यवहार अपने आप हो जाता है। जब एक आदमी घर लौटता है तो वह ज़रूर अपनी जाति की ओर लौटता है। जहाँ सिर्फ जाति और धर्म के आधार पर ही कार्यक्रम और रस्म होते थे और होने वाले भी हैं। चाहे वह अन्नप्राशन, गृह प्रवेश, सगाई हो सब धर्म और जाति पर निर्धारित है। अपनी जाति के पुरोहितों का भी जाति स्थान आज ब्राह्मणों का हो गया। क्रांतिकारी मार्क्सवादी, गांधीवादी सामाज-सुधारक या युक्तिवादी चाहे कुछ भी हो केरलीय अपनी जाति के आधार पर विवाह जैसी रस्म अदा करते है। अपने आदर्श और व्यवहार के अंतर्विरोध से उनको कोई फर्क नहीं पड़ता। केरलीय व्यक्तित्व का यह दो चेहरा साधारण है। यही मानसिकता का झलक बंगाल मुख्यमंत्री सुभाष चक्रवर्ती के शब्दों में भी दिखाई पड़ती है।

मलयालम के प्रसिद्ध आलोचक कुट्टीकृष्ण मारार दलितों के बारे में लिखते हुए कहते हैं, एक दिन एक ब्राह्मण का मजाक उड़ाते हुए परोक्ष रूप में दोनों अगल-बगल बैठे लोग कह रहे थे “गधा है या बन्दर” तब ब्राह्मण ने जवाब दिया “दोनों के बीच में”। इस तरह का फलित परिष्कृत लोगों को भी

हंसा सकता है। आगे मारार कहते है यदि ब्राह्मण चुपचाप बैठे हुए उन लोगों से कहता “मैं गधा और बन्दर के बीच में हूँ” तो यह ना ‘ब्राह्मण चुटकुला’ होता यहाँ तक जाति की दृष्टि से लोगों का अपमान होता (‘परिहास चर्चाकल - कला जीवितं तन्ने’ पृष्ठ -150)।

चुटकुले में भी दलित जाति! यह सवाल उस काल में किसी ने भी मारार से नहीं पूछा होगा, शायद आज भी मलयाली नहीं पूछेंगे। क्योंकि मलयाली की नज़र हर वक्त जाति पर ही होती है चाहे वह दफ्तर में हो, कॉलेज में या बाज़ार में हो। ये वर्ग हिन्दू, मुस्लिम और ईसाई में भी होते है। उनके वर्गों में कुछ ऐसे भी लोग है जो सवर्ण होकर भी काले रंग होने की वजह से अलग किया गए, और गोरे होने के कारण अपग्रेड किये गए दलित भी है (उस बात पर वे खुश भी है)। बगल में बैठने वाले के SSLC सर्टिफिकेट में उसकी जाति चुपके से देखने वाले मलायाली भी है, वह शायद उसके लिए एक मित्रता का आरम्भ और दृढ़ बनाने में सहायक भी हो सकता है। नवजागरण की प्रेरणा से कहीं न कहीं छिपाया हुआ जातिबोध धीरे-धीरे बाहर भी आ जाता है। जाति की पूछ अपने नाम से हटाकर मन्नत पद्मनाभन तथा के.दामोदरन जैसे महान व्यक्तित्व हमारे लिए उदाहरण बनते है किन्तु उन्हीं की पीढ़ी के लोग जाति का नाम बड़ी शिद्दत से अपने नाम और अस्तित्व के साथ जोड़ने में तत्पर है। वारियर, वर्मा, मन्नाडियार, नायर आदि नामों से वे साहित्य और ज़िन्दगी में गर्व करने लगे। लोकतांत्रिक केरल में विवाह के समय स्वयं की जाति के तलाश में लोग इधर-उधर भागते हैं। यहाँ तक अखबार में भी जाति के लिए नया कॉलम बनाया जाता है।

आधुनिक नागरिक की कपटता का अंत होने लगा। सर्टिफिकेट्स की कापियों में नज़र डालकर खुद को क्रांतिकारी आधुनिक कहने वाला आदमी अन्दर ही अंदर पुलकित होने लगा। ब्राह्मण और नायर जाति का जिक्र कर सकते है, यह

कहने वाले नरेंद्र प्रसाद, और वी.सी स्रीजन मिथ्या नहीं थे जीवित व्यक्तित्व ही थे।

1. जाति को शास्त्र बनाकर आचारों को गर्व के साथ निभाने वाले कुछ लोग। यह एक तरह से आइडेंटिटी पॉलिटिक्स का एक अतिवाद (Extremism) है।
2. सिर्फ सामजिक पारंपरिक रूप से अनुष्ठित होने के कारण आचारों को मानने वाले कुछ लोग।

इस तरह पुनरुत्पादन होने वाली जातिगत सांस्कृतिक मूल्य घटते गए। फोल्कलोर अध्ययन में भी पहले जैसे उल्लिखित जाति को भी इशारा किया जाता है। किन्तु वह नव जाति अस्पृश्यता और असमत्व से मुक्त एक ग्राम व्यवस्था का सपना देखता है। जाति संगठनों के भूतकाल की लापरवाही उनकी रचनाओं में भी दर्शनीय है। सवर्ण जाति से लेकर दलितों की रचनाओं तक जाति के सोपानबद्ध रूप से ही चित्रित करने की कोशिश की है। केरल के लोकतंत्र में जातीयता की स्थापना और जाति विरोध का तिरस्कार ही हुआ है। SNDP, NSS[31] जैसे संगठन उनके मुख्य लक्ष्य जातिविरोध को भूलकर आज सत्ता की अवश्यकताओं की पूर्ति करना अपना लक्ष्य मानकर बैठे हैं, यह धीरे धीरे स्वयं एक सामुदायिक शक्ति बन गयी है। किन्तु अय्यांकाली का जति-विरुद्ध आन्दोलन ईमानदार होकर भी शिथिल किया गया और उसके स्थान पर अनेक उपजातियों का जन्म हुआ। किसी भी दल की ‘जनरल मेरिट’ में कोई दलित नहीं है। इस तरह जाति विरोध के नाम पर लोकतांत्रिक व्यवस्था ने जाति को ही अपना वोट बनाया। हमारी व्यवस्था ने जाति विरोध के मुख्य लक्ष्य को समझने का प्रयास नहीं किया, बल्कि लोकतंत्र स्वयं जाति के रूप धारण कर लिया।

---

[31] केरल के मुख्य जाति संगठनों के नाम

किस तरह लोकतंत्र को जाति को समझना चाहिए, यह सवाल आज तक मार्क्सवादियों ने भी अपना चर्चा का विषय नहीं बनाया, और ऐसा मानना भी मूर्खता होगी की पार्टी जाति को आरक्षण मात्र मानते है।

केरल संस्कृति का निर्माण भी जाति के आधार पर ही हुआ है यह सच्चाई है। जैसे कि पहले कहा गया कि फ्यूडल व्यवस्था से नवजागरण की ओर बढ़ी केरल संस्कृति केवल केरल के कुछ ज़मींदार नायर वर्ग की थी, यह बात पटम रामचंद्रन नायर अपनी कृति 'नायर समुदाय का इतिहास' में साफ उल्लिखित करते हैं। यानि केरल की कलात्मक सृष्टि भी जाति के अनुसार हुई है।

हिल्लिस मिल्लेर संस्कृति को उपभोग समाज (Consumerist society) के एक मीडिया पार्ट के रूप में देखते है। केरल में लोकतंत्र को तभी स्वीकार किया जाता है जब वह मीडिया में प्रत्यक्ष होता है।

(2007)

14. व्यक्ति, स्वत्व, कर्तृत्व - एक दलित चिंतन

व्यक्ति (Individual) शब्द के अर्थ का प्रयोग जिस तरह आज हो रहा है उसका पहली बार प्रयोग 18 वीं शती में एडम स्मिथ ने किया, “Among the savage nations of hunters and fishers, every individuals… is employed in useful labor.” बाद में Origin of species में डार्विन ‘Individuals’ शब्द का प्रयोग करते है। रेमंड विलियम्स् अपनी ‘Keywords’ में कहते है- यह लैटिन शब्द ‘Individuals’ का नया रूप है इसका मुख्य अर्थ है ‘not cuttable’, 6वीं शती तक इसी अर्थ का प्रयोग हुआ था।

मध्यकाल के अंत से व्यक्ति शब्द के आधुनिक अर्थ का प्रयोग करने लगा, और नई अवधारणा रूपायित होने लगी। अर्थात व्यक्ति ही सबसे महत्वपूर्ण है, समाज और नियम उसके आधार पर निर्मित है। वैज्ञानिक चिन्तन आधुनिक पृष्ठभूमि आदि नयी अवधारण के निर्माण में आधार सिद्ध हुए। किन्तु आज भी व्यक्ति और आदर्श विरुद्धता का नए आशय भी उभरकर आते रहते हैं। बर्क जैसे चिंतक कहते है- Individuals is foolish the species is wise. आगे मार्क्सवादियों ने भी अपना मत व्यक्त किया कि व्यक्ति का निर्णय सामजिक बंधनों से होता है। ‘दि ग्रूंडरिस्से’ (The Grundrisse) में मार्क्स स्वयं कहते है - “मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, नाकि केवल अनेक प्राणियों का झुंड है। समाज से ही एक व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण होता है। एक एकांत व्यक्ति समाज के बाहर उत्पन्न होता है, व्यक्तियों के परस्पर बात करने से ही समज में भाषा का विकास होता है, इस बात का तिरस्कार करना बड़ी मूर्खता होगी।” यानि व्यक्ति की सृष्टि भाषा और समाज के बाहर नहीं होती है।

व्यक्ति से सम्बंधित एक और महत्वपूर्ण शब्द है ‘Personality’। प्रारंभ में इसका अर्थ था ‘मुखौटा पहने नट’। 18वीं शती में Personality का अर्थ बदलकर ‘The existence Individuality of anyone’ हो गया। इसके साथ

ध्यान देने वाला शब्द है 'Private' 15 वीं शती इसका अर्थ था 'धार्मिक नियमों से हटकर रहना'। इन तीनों शब्दों के इतिहास की पृष्ठभूमि से गुज़रते वक्त आशय की ऐसी परिभाषा सामने आती है : 'पाश्चात्य चिंतन में व्यक्तित्व से तात्पर्य, धार्मिक बोध से स्वतंत्र है और वैज्ञानिक आर्थिक संबंधों के विकास की पृष्ठभूमि का आधुनिक संकल्प है व्यक्तित्व।'

भारतीय पृष्ठभूमि में 'व्यक्ति' उतना महत्वपूर्ण शब्द नहीं था। भारत में व्यक्ति (Individual) सर्वव्यापी ब्रह्मचैतन्य का हिस्सा था। भारत में व्यक्ति बोध वर्ण एवं जाति बोध के आशयों में घेरे हुए थे। यहाँ तक उत्पादन का कार्य भी अनुष्ठान के रूप में हुआ। सिविल नियम से नहीं वर्ण जाति के नियमों से नियंत्रित किया गया। स्त्री-पुरुष की प्रवृत्ति का आधार 'धर्म' नहीं था 'इच्छा' थी। समाज नामक सार्वजनिक क्षेत्र का बोध भी बहुत दूर की बात थी। पहले उल्लिखित सामंतवाद का उत्पादन ही व्यक्ति को स्वतंत्र बना देता है। भारतीय उत्पादन क्षेत्र की शक्ति जाति थी, वह मज़दूर नहीं था। Caste से Class तक का दूर Individuality यानि व्यक्तित्व का भी था।

ज्ञान की पूर्णता और आंशिकता

भारतीय दर्शन के अनुसार व्यक्ति केवल समग्रता का एक अंश है। इसकी व्याख्या ज्ञान के इतिहास के आधार पर कर सकते हैं, भारतीय वेदान्तों ने ज्ञान (knowledge) को आत्मीयपूर्णता के उपकरण के रूप में देखा है। ज्ञान से उनका तात्पर्य था कि सबका समन्वय, उसका प्रमाण उपनिषद देते हैं 'ज्ञानादेवतु कैवल्यं'। व्यवहारिक ज्ञान को अपूर्ण माना गया।

सामंतवाद के उत्पादन के साथ-साथ ज्ञान केवल कौशल (skill) एवं मजदूरी बन गया तथा वह 'अपूर्णता' अथवा 'आंशिकता' का हिस्सा बन गया। इस उत्पादन का मुख्य स्वभाव है मजदूरी का विभाजन (division of labor) है। सामन्तवाद के काल में कृषक का काम सिर्फ बीज-वपन नहीं था, उस

उत्पादन के समग्र विकास में उसकी भूमिका थी। किन्तु यह समग्र ज्ञान की आवश्यकता पूंजीवाद के उत्पादन प्रक्रिया में नहीं है, वह केवल चार्ली चैपलिन की फिल्म की तरह कन्वेनर बेल्ट में स्क्रू डालने वाला एकमात्र काम में सीमित है। अधिकार का विनिमय ज्ञान के द्वारा होता है इसलिए ज्ञान का विभाजन सामंतवाद के लिए ज़रूरी था। ज्ञान का वैज्ञानिक शाखाओं के रूप में विभाजित होना भी स्वाभाविक है।

वैज्ञानिक-शाखा (discipline) का विभाजन अरस्तु से भी पुराना है। 'Discipline' के लिए आधुनिक युग में दो अर्थ है एक : अध्ययन शाखा अथवा वैज्ञानिक-शाखा A particular branch of learning or body of knowledge, दूसरा : शिक्षण अथवा अनुशासन 15वीं शती से इसको अनुशासन के अर्थ में प्रयोग किया जाता है। 'Discipline' का लैटिन अर्थ है शिष्यों को देने वाले निर्देश। यानि पहले वैज्ञानिक शाखा का विकास धार्मिक बोध और धार्मिक अधिकार के मिश्रण से हुआ था। इस तरह धार्मिक व्यवस्था में निर्मित अध्ययन शाखा का विकास सहज रूप से नहीं हुआ था, बल्कि सामाजिक अधिकार के परिणामस्वरूप था। अरस्तु के समय में थियोलोजी, गणित, भौतिक विज्ञान आदि उन्नत स्थान पर थे, एथिक्स, पॉलिटिक्स जैसी अन्य प्रयोगात्मक शाखाएँ उसके नीचे थीं। अरस्तु पहले से ही जान गए थे कि विज्ञान शाखा का विभाजन होना अनिवार्य है, फिर भी अध्ययन क्षेत्र के समग्रता के आधार पर उन्होंने दर्शन शास्त्र (philosophy) को सबसे उन्नतम और सार्वलौकिक माना। आधुनिक विश्वविद्यालय 'Doctor of philosophy'(Ph.D.) की उपाधी देने के पीछे का कारण भी यही समग्रता का आदर्श है। 'University' शब्द का लैटिन शब्द है 'Universitas' जिसका अर्थ है 'whole' यानि समग्र।

मध्यकाल में अध्ययन शाखा का विभाजन मेडिसिन, लॉ आदि प्रोफेशन के रूप में हुआ था। 17 वीं शती के अंत में ज्ञानोदय काल तथा विज्ञान की उन्नति प्रकृति की व्याख्या दो तरीके से देते हैं :

एक : सुव्यवस्थित बृहत् यंत्र के रूप में (well-ordered machine)

दो : कुछ सार्वलौकिक नियमों से परिभाषित करते हुए।

विभजित विभिन्न ज्ञान का समन्वय करने का भी प्रयास साथ में हो रहा है। आज के एनसाइक्लोपीडिया इसका उदहारण है, ज्ञान को विभाजित करने के साथ-साथ उसका समन्वय भी करता है।

वीको (Vicco) जैसे आलोचकों का कहना है कि ज्ञानोदययुग में बाकि अध्ययन शाखा के ऊपर विज्ञान/शास्त्र अध्ययन शाखा का जो प्रभुत्व रहा है उसी के कारण से ही आगे के समय में विश्वविद्यालयों में मानविकी संकायों को कम महत्व दिया जा रहा है। इसी युग में ही समाज विज्ञान पर 'शुद्ध ज्ञान' का बोध स्थापित किया गया। शुद्ध ज्ञान से तात्पर्य था, जो समाज विज्ञान से परे और मानव के लिए उपयोगी ज्ञान। किन्तु आगे कुछ समाज वैज्ञानिकों ने प्रमाण के साथ यह व्यक्त किया कि गणित का भी अविष्कार सामजिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही हुआ है।

संक्षिप्त रूप में यह कहा जा सकता है कि विज्ञान शाखा का विभाजन धार्मिक अधिकार तथा सामंतवाद के उत्पादन की पूर्ति के लिए निर्मित और विकसित है।

उत्तराधुनिक समाज में यानी व्यावसयिक एवं सामंतवाद काल के उपरांत ये अध्ययन शाखाएँ और भी सूक्ष्म रूप से विकसित होने लगी। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि विज्ञान का किस तरह मार्केटिंग किया जा सकता है। उत्पादन में भी यह विभाजन देखा जा सकता है। सार्वभौमिक सामंतवाद का यह तंत्र है कि विभिन्न देशों में मूलधन को सबसे कम पैसा देकर विभाजित करना। मूलधन को शेयर मार्केटिंग, blank आदि में विभजित करते हैं, उदहारण के लिए - फोर्ड कार का उत्पादन 18 देशों में होता है, और I.T क्षेत्र में भी आज यह सामान्य बात है। इस काल में एक व्यग्य कथा अंध और हाथी की कहानी

का व्यंग्य रूप पुनराविष्कार किया गया है। कुछ अंधे लोग हाथी को देखकर वापसी के बाद उसका वर्णन करने लगे कि हाथी 'सूप' की तरह है, कुछ ने कहा हाथी खम्भे की तरह है। अध्यापिका ने अंधों का जिक्र किये बिना यह कहानी अपनी कक्षा में प्रस्तुत की और पूछने लगी कि कौन हाथी को देखने गए थे। तुरंत विद्यार्थियों ने जवाब दिया कि 'हाथी से मिलने कुछ विशेषज्ञय गए थे' !! इससे स्पष्ट होता है पूरा समाज लक्ष्य बोध से अँधा हो गया है। अर्थात् विज्ञान का विभाजन सिर्फ विज्ञान को ही आधार बनाकर नहीं होता है।

पहचान और आधुनिकता

व्यक्तित्व अध्ययन का विषय मनुष्यराशि के आरंभ को काल नहीं बल्कि एक जनता या व्यक्ति का आत्मबोध होना चाहिए। इसलिए वंश और स्पीशीज का अध्ययन व्यक्तित्व के अध्यन में आवश्यक नहीं है। व्यक्ति और व्यक्ति द्वारा निर्मित जनता का इतिहास और उनके आशय आदि को पहचानना बहुत महत्वपूर्ण है। पहले सूचित करने के अनुसार आधुनिक व्यक्ति के निर्माण का कारण सामंतवाद का उत्पन्न होना और उसका सांसारिक बोध है। लेकिन आधुनिक मानव के व्यक्तित्व के निर्माण के लिए प्रकृति पर मानव का विजय आधार बना तथा इसके फलस्वरूप विभिन्न मनुष्य समुदाय को महत्वहीन मानकर व्यक्ति स्वयं को विश्वमानव के रूप देखने लगा। जैसे एक व्यवसायिक उत्पादन का सार्वलौकिक रूप दिया जाता है वैसे ही आधुनिक मानव का भी सार्वभौमिक रूप दिया गया। कम्युनिस्ट मनिफेस्टो के प्रसिद्ध वाक्य इस आधुनिकता की सार्वभौमिकता का प्रमाण है "सार्वभौमिक मजदूरों एक हो जाओ।"

यह प्रत्येक देश के व्यक्ति-विशेष को निशब्द बनाने के परिणामस्वरुप भारत की जाति का स्वीकार संसार ना कर पाए यह कहीं-न-कहीं एक कमी ही

थी। उसने केवल मनुष्य वर्ग का संबोधन किया। यूरोप पर आधारित यह मनुष्य (पुरुष) संकल्प बाकी जनता के ऊपर अपना उपनिवेश जताने का एक मार्ग था।

काले-गोरे का द्वंद्व इसका प्रमाण है। वंश (Race) शब्द के इतिहास से यह स्पष्ट होता है कि उसके पीछे उपनिवेश का ही प्रभाव है। 1508 में विलियम दनबर (William Dunbur) की रचनाओं में पहली बार 'Race' शब्द का प्रयोग होता है। 18वीं शती तक साहित्य में इसका प्रयोग 'A class of persons or things' के अर्थ में किया जाता था। 1764 में पहली बार इम्मानुअल कैंट ने (Race of Mankind) में शरीर-शात्रीय रूप में अलग से इसका प्रयोग किया। किन्तु 1748 में ही डेविड ह्युं (Of National characteristics) इसका प्रयोग अलग अर्थ में 'Never was a civilize nation of any other complexion than white" कहकर गोरे रंग की अभ्रन्तता स्थापित करने का प्रयास किया है। इस आशय के आधार पर कैंट ने काला/गोरा इन दो रंग संबंधी अवधारणा को मानसिकता (Mental capacity) का मानदंड बनाया (Observation on the feeding of the beautiful and sublime)। कानिबल (Canibal), जंगली नीग्रो आदि यूरोपियन लोक अवधारणों के प्रमाण के शब्द है। उस युग में दार्शनिकों ने भी बुद्धि और संवेदना को वर्ण के साथ जोड़कर उसका विवेचन करने की प्रवृत्ति को स्वीकारा। डेनियल डीफो के 'रोबिनसन क्रुस्सो' इसी अवधारणा की सृष्टि है। इसी अवधारणा के कारण से ही हारियट बीचरस्टोव की रचना 'Uncle Tom's Cabin' में यूरोपियन नेग्रित्युद का जब उल्लेख हुआ तब शोर मच गए।

पाश्चात्य आधुनिकता के इसी सार्वलौकिक मानव-संकल्प के आधार पर नवजागरण के उपरांत ही भारत में आधुनिकता का निर्माण हुआ। यहाँ दमित या पिछड़ों का कोई स्थान नहीं है। भूमंडलीकरण प्रक्रिया का विकास पूंजीवाद के स्वार्थ और लाभ के लिए ही हुआ है। सारे उत्पाद पदार्थों के बाजारीकरण के कारण, देशीयता अनावश्यक समझा गया। दुर्बल और हाशिये के लोगों को ही

देश और समाज अपनी पहचान बनाने की आवश्यता थी। इसलिए ही इस भूमंडलीकरण के युग में वन्दे मातरम् का भी रीमिक्स बाज़ार में आ चुका है।

नवजगारण का यह भी एक लक्ष्य था कि सवर्णों के लिए आधुनिक संरक्षण हो। सामाजिक धर्म के अन्तर्निहित वस्तु का संरक्षण नवजागरण में महत्वपूर्ण विषय था। धर्म में निहित उच्च नीचत्व पर नेताओं का ध्यान नहीं गया, बल्कि धर्म के आतंरिक नवीकरण पर ज़ोर दिया। गांधीजी ने अस्पृश्यता को हिन्दू धर्म की आतंरिक समस्या के रूप में व्याख्यायित की। किन्तु अम्बेडकर ने देशीय आधुनिकता के स्थान पर पाश्चत्य आधुनिकता को स्वीकार करने के पक्षपाती थे। उन्होंने अस्पृश्यता को मानवता के खिलाफ सामाजिक समस्या मानकर पाश्चात्य मूल्यों को धर्म में स्थापित करने का समर्थ रूप से प्रयास किया। देशीय नवजागरण के सन्दर्भ में सवर्ण जाति प्रथम श्रेणी में खड़े रहे। केरल में भी नवजागरण के बाद जाति समुदायों में दलितों के अलावा बाकी सभी ने स्वयं की पहचान बन ली। किन्तु दलितों को आधुनिकता में प्रवेश करने के लिए अपनी जाति को छुपाके रखना पड़ा। क्योंकि भारतीय आधुनिकता सवर्णता के साथ थी। सवर्णों ने अपनी जाति की पहचान के साथ आधुनिक राष्ट्रीय व्यवस्था में प्रवेश किया। जाति बताने के सन्दर्भ में दलितों में निम्न मानसिकता उत्पन्न होने लगी। सवर्णों द्वारा बनायी गयी भ्रष्टा सामाजिक व्यवस्था के कारण दलितों में अपनी जाति को लेकर चोट पहुँचने लगी, जो केवल एक बाह्य निर्मिती है। 'Negro', 'Tribe', हरिजन आदि शब्दों का उन लोगों ने तिरस्कार किया, क्योंकि यह सवर्ण-अवर्ण के बीच में और अंतर चित्रित करने की प्रक्रिया थी।

'Malabar and it's folks' (1900) नामक किताब में टी.के. गोपलप्पनिक्कर मालाबार के दलितों को उल्लिखित करते हुए कहते है - "उनके कमर में बांधे कपड़े का टुकड़ा साल में एक या दो बार धोया जाता है। किन्तु

उनका काम खे ती और ज़मीन में होने के कारण बारिश के मौसम में वह भी शरीर के साथ धुलकर साफ हो जाता है।" (पृष्ठ - 154)

गंदे कहे जाने वाले इन लोगों के लिए साफ़ रहना एक अधिक ज़िम्मेदारी बन जाती है। बाकी जनता की सफाई या उस समय के सुथराई का प्रमाण इस वाक्य में महत्वपूर्ण नहीं है। जैसे कि मुसलमानों को देश-प्रेम का प्रमाण देना पड़ता है।

इस तरह कोलोनियल युग के पद्धतियों को परखने पर उपनिवेश सामाजिक अधिकार आदि दीर्घ इतिहास में निर्मित हुई पहचान या व्यक्तित्व व्यवस्था के बारे में पता चलता है।

स्वत्व, कर्तृत्व

स्वत्व या व्यक्तितत्व एक वस्तु नहीं, प्रक्रिया है। वह एक उपकल्प और बोध है। क्या है और क्या नहीं हैं इन दोनों के योगफल से स्वत्व का अर्थ बनता है। व्यक्तितत्व का बोध कभी पूर्ण नहीं होता है यह एक प्रक्रिया है जिसका निर्माण लगातार होता रहता है। परिणाम के साथ इसको जोड़ा जाता है, इसलिए स्वत्व एक संबंधन भी है। यह स्थानपरक, समाजपरक, वंशीय, वर्गीय आदि से उत्पन्न निकटता बोध है। एक अर्थ में पहचान या स्वत्व सामाजिक भावना हो सकती है या फिर साहित्य, दृश्य-भावना से, इतिहास से, या स्मृति से निर्मित होने वाली सृष्टि भी। वंश को व्यक्तितत्व निर्माण की उउपाधि मानना बहु-संस्कृति की एक दुर्बलता है। क्योंकि कहीं-न-कहीं आधुनिकता का निर्माण भी वंश महिमा के आधार पर हुआ है। एक अर्थ में वंश भी एक सामाजिक निर्मिती ही है।

नयी तकनीकी व्यवस्थाएँ इस तरह के व्यक्तितत्व निर्मितियों का तिरस्कार करती हैं। आज भौतिक रूप से स्थान, काल, वर्ण, वर्ग आदि महत्वपूर्ण नहीं रहे,

बदले में पहचान एक सांस्कृतिक अतीत की झलक बन गयी, जैसे कि फोल्कलोर 'We-lore' बन गया। एक व्यक्ति जिस सामाजिक व्यवस्था से सम्बन्ध रखता है उसमें ढल जाता है। दलित इतिहास में दस्यु, चांडाल, श्वापाकन आदि से लेकर हरिजनों तक के व्यक्तित्व का समीकरण दलितों ने एक हद तक किया है। 'दलित' शब्द एक वर्ग पर दी हुई परिभाषा है जिससे वे स्वयं के बोध में प्रवेश कर रहे थे, खुद की पहचान बना रहे थे। वह जाति का नहीं जातिविरोध का प्रतीक था। साथ-साथ अपनी सामुदयिक पैतृक संपत्ति का मूलधन (Capital) तत्कालीन समाज की गलत अवधारणाओं पर प्रहार था।

आधुनिक व्यक्तित्व अवधारणाओं के निर्माण का आधार केवल 'मनुष्य' ही था, ज़िन्दगी के अन्य तत्वों को बिलकुल नज़रंदाज़ ही कर दिया गया। किन्तु देश की नयी पहचान यूरोप केन्द्रित पितृसत्तात्मक-इसाईयत-सवर्ण अधिकार की कपटता को समझने के बाद विकसित हुयी। इसके साथ साथ अनेक श्रेणीकृत वर्ग अपने अस्तित्व की आवश्यकता को समझकर व्यक्तित्व का निर्माण खुद करने लगे। जनता के इस बोध के कारण धर्म, वर्ग आदि बृहत् आख्यानों में दरार आने लगी। जैसे वर्णों से जाति का निर्माण होता है वैसे धर्म में जाति/वंश/विश्वासों का अंतर तथा वर्गों में स्त्री-पुरुष और जाति की पहचान आदि धीरे-धीरे शिथिल होने लगी। आधुनिकता पर मनुष्य विजय के बदले मनुष्य विधेय का रूप 'मैं' राष्ट्रीयता के रूप में उभरकर आने लगी। जैसे सामंतवाद के बृहत् मूलधन का विभाजन होकर छोटे-छोटे फाइनेंस शेयर्स बन गया वैसे 'मैं' शब्द का महाप्रमाण विभाजित होकर छोटे व्यक्तित्व एवं लघु आख्यान बन गया, ओगोनी वंशज, आदिवासी वर्ग तथा पालस्तीनियों के व्यक्ति राष्ट्रीय आंदोलन के परिणाम स्वरुप के नए मानकों की सृष्टि हुई। इतिहासों से इतिहास, फेमिनिज़्म से फेमिनिसम बनने का प्रत्ययशास्त्र की पृष्ठभूमि वही थी। बोध के प्रत्येक सन्दर्भ में एक व्यक्ति या एक वर्ग जब स्वयं का स्वीकार

करते है वही अपने 'स्वत्व' की पहचान स्वयं करता है। किन्तु वह व्यक्तित्व की अंतिम परिभाषा नहीं है, बल्कि संसार के बारे एक व्यक्ति की नज़रिया है।

Rasheed Araeen (जन्म: 1935) नामक एक ब्रिटिश-एशियन आर्टिस्ट कहते है - "मैं कहता हूँ कि मैं एक एशियन, भारतीय, पाकिस्तानी, ब्रिटिश, यूरोपियन, मुस्लिम, पुरोहित, धर्म विरोधी, आधुनिक और उत्तराधुनिकवादी हूँ। लेकिन इन सबका अर्थ क्या है? क्या ये सब मेरी परिभाषा देने में पर्याप्त है? क्या इनको अपनी ज़िन्दगी के हिस्से के रूप में स्वीकार करना ज़रूरी है? किसी और के आशयों से मैं अपने व्यक्तित्व की परिभाषा किस तरह दूँ? मुझे ये नाम स्वीकार करने में या नकारने में ना कोई डर ना कोई आपत्ति है।" वे स्वत्व को व्यक्तित्व को देश की जनता की स्वतंत्रता के गौरव के चिन्ह के रूप सामने रखते है। किन्तु यह एक ऐसा तत्व है जो एक ही समय एक साथ विशाल भी होता है और संकुचित भी। किन्तु एक और वास्तविकता है कि उपेक्षित वर्ग इस विशालता को स्वीकार नहीं कर पाते हैं। वास्तविकता (Real) प्रतीकात्मकता (Symbolic) परता आदि एक दुसरे से मिलकर रहते है। किसी अन्य व्यक्ति द्वारा निर्मित एहसास और वास्तविकता के अंतर का बोध ही कर्तृत्व का पहला पड़ाव है।

केवल व्यक्तित्व बोध वाले व्यक्ति या जनता ही समाज के कर्तृत्व (Subjectivity) पद में प्रवेश कर सकती है। व्यक्तित्व से कर्तृत्व तक में एक समुदाय का प्रवेश एक बहु-सांस्कृतिक समाज में अत्यंत महत्वपूर्ण है। वास्तव में केरल में नायर जाति के अधिकार से ही केरलीयता के प्रतीकों का निर्माण हुआ हैं। एक बहु-सांस्कृतिक समाज में उपलब्ध यही पद ही एक जनता को कर्तृत्व की ओर ले जाने वाला मुख्य तत्व है।

आत्मचेतना प्रतीक क्रम (Symbolic order) से विच्छेद है। स्लोवेनियन चिन्तक स्लावेज सिसक की राय में, 'जहाँ यथार्थता और प्रतीकात्मकता की

संधि (Interface) होती है वहाँ आत्मचेतना निर्मित होती जब हम गाड़ी चला रहे होते है कभी-कभी याद नहीं रहता कि हम गाड़ी चला रहे है, अचानक मन में यह यथार्थता का बोध होता है। लाकनियान अवलोकन के अनुसार ड्राइव करते समय हम एक प्रतीकव्यव्था से चल रहे होते है। ड्राइव करते समय हम एक प्रतीकव्यवस्था का भाग है, वहाँ आत्म-चेतना अप्रत्यक्ष है। अचानक जब एक ट्रक हमें लक्ष्य करके आता है तो जान बचने के लिए हम मजबूर होते है। फैसला लेने के उस सन्दर्भ में कर्ता प्रत्यक्ष हो जाता है और ब्रेक लगाने की कोशिश की जाती है। या एक तरह से यह प्रतीक-व्यवस्था में यथार्थ का प्रवेश है। जब एक जनता को प्रतीक-व्यवस्था में बंधे रहने के लिए मजबूर किया जाता है तब उससे अपनी निजी जीवन की यथार्थता को बचाने की कोशिश वे करते है। उस तरह सदा निशब्द किये जाने वाले एक वर्ग की आत्मचेतना को उनकी आन्तरिकता से पुनःजागृत करने का बोध है 'दलित'।

(2009)

तृतीय अध्याय

अनूदित पाठ का विश्लेषण

3.1. अनुवाद परिचय

"अनुवाद मानव सभ्यता के साथ ही विकसित एक ऐसा तकनीक है जिसका अविष्कार मनुष्य ने बहुभाषिक स्थिति की विडम्बनाओं से बचने के लिए किया था।"[32] अनुवाद शब्द 'अनु' उपसर्ग के साथ 'वद्' धातु के योग से बना है, अनु का अर्थ है 'फिर से' 'पुनः' आदि। 'वद्' का अर्थ है 'कहना तो अनुवाद का अर्थ हुआ 'दुहराना', 'पुनः कथन', 'फिर से कहना' आदि। अंग्रेजी में अनुवाद को 'Translation' कहते हैं। भारतीय सन्दर्भ में अनुवाद की प्रक्रिया 'दुहराने' के अर्थ में वैदिक काल से ही था। गुरुकुल में गुरु जो कहते थे उसको बच्चे दुहराते थे, इस प्रक्रिया को अनुवाद कहा जाता था। वहां अनुवाद के लिए दो भाषाओँ की आवश्यकता नहीं थी। किन्तु पाश्चात्य परंपरा में अनुवाद का अर्थ और शैली बदल जाती है। एक भाषा में कहीं गयी बात को दूसरी भाषा में रूपांतरित करने को अनुवाद कहते हैं। इसलिए दो भाषाओँ का होना तथा अनुवादक को दो भाषाओँ की जानकारी रखना ज़रूरी है। डॉ जॉन्सन अनुवाद की परिभाषा इस तरह देते हैं, "अनुवाद का तात्पर्य है अर्थ को बनाये रखते हुए अन्य भाष में अंतरण करना"[33]। आज भारत में भी पाश्चात्य रीति के अनुसार अनुवाद का अर्थ स्वीकार किया है। अनुवाद की आत्मा मूल भाषा में होती है। इसलिए अनुवादक को मूल भाषा में अच्छी पकड होनी चाहिए, पूर्ण अधिकार होना चाहिए। कभी कभी मूल भाषा अनुवादक की मातृभाषा होती है।

---

[32] .जी गोपीनाथन, अनुवाद सिद्धांत एवं प्रयोग. पृ.सं.9

[33] .जी गोपीनाथन, अनुवाद सिद्धांत एवं प्रयोग. पृ.सं.15

डॉ भोलानाथ तिवारी के अनुसार “भाषा ध्वन्यात्मक प्रतीकों की व्यवस्था है और अनुवाद इन्हीं प्रतीकों का प्रतिस्थापन।”[34] आरंभ काल से ही मनुष्य ने विचार विनिमय करने के लिए तरह-तरह के मार्गों का इस्तेमाल किया है। वह चित्रकला, इशारों आदि के माध्यम से आशय का सम्प्रेषण करता था। भाषा के आगमन और विकास ने उसकी ज़िन्दगी बदल डाली। भाषा का विकास धीरे धीरे लिपिबद्ध रूप में हुई, तो एक भाषा में कही गयी बात को दूसरी भाषा में कहना आसान भी हो गया, इस प्रक्रिया को अनुवाद कहा गया।

अनुवाद का वर्तमान रूप धीरे धीरे कई प्रक्रियाओं से विकसित है। आजकाल अनुवाद सुपरिचित एवं लोकप्रिय हो चुका है। एक तरह से कहे तो अनुवाद भी एक कला है। किन्तु अनुवाद का काम इतना भी सरल नहीं है। अनुवादक के सामने सांस्कृतिक, भाषिक तथा भाषा वैज्ञानिक रूप से कठिनाईयां आती हैं। कुछ समस्याओं का हल अनुवादक के सामने नहीं होता है। उसके ऊपर मूल कृति से और मूल रचनाकार से पूरी ईमानदारी दिखाने की ज़िम्मेदारी होती है। अनुवाद पढ़ने से समझने से बिलकुल अलग है अनुवाद करना। अनुवादक की ज़िम्मेदारियों में से एक है अनुवाद आदर्शों का पालन। अनुवादक को स्रोत भाषा की तरह लक्ष्य भाषा में भी अधिकार होना चाहिए। भाषा का अधूरा ज्ञान केवल अनुवाद को नहीं बल्कि मूल कृति को भी बिगाड़ देता है। केवल भाषा बोलना, जानना तथा वैज्ञानिक रूप से भाषा का ज्ञान होना अलग अलग बात है। अनुवादक को भाषा का वैज्ञानिक ज्ञान होना बहुत आवश्यक है। अपर्याप्त भाषा ज्ञान से अनुवाद करना असंभव है। अनुवाद के छः तत्वों को समझना बहुत ज़रूरी है - स्रोत भाषा (Source language), लक्ष्य भाषा (target language), अनुवादक (translator), सन्दर्भ (context), पाठक/श्रोता (reader/listener)। इन मुख्य तत्वों की सहायता से एक अनुवाद सफल और बेहतरीन अनुवाद बन जाता है। भाषा ज्ञान के साथ अच्छे अनुवादक बनने के

[34] भोलानाथ तिवारी, अनुवाद विज्ञान सिद्धांत और प्राविधि,पृ.सं.61

लिए अभ्यास करना सबसे महत्वपूर्ण है। भाषा तथा अभ्यास से वे दक्षता प्राप्त करते हैं। अनुवादक को अनुवाद के सिद्धात तथा परंपरा का भी ज्ञान रखना चाहिए। अनुवाद एक सामाजिक गतिविधि है, इसलिए अनुवाद को समाज के मूर्त और अमूर्त सारी चीज़ों की जानकारी रखना भी आवश्यक है। अनुवाद के सहवर्ती कुछ और घटक भी है, जो अनुवादक को अनुवाद प्रक्रिया सबसे अधिक सहायता करता है, वे हैं - शब्द कोश। कोश, शब्द कोश, शब्द संग्रह, ऑनलाइन डिक्शनरी अदि अनुवादक की मदद एक हद तह शाब्दिक स्तर पर करते हैं। किन्तु शब्द कोश सदा शब्द का सही अर्थ देने में सफल नहीं होता है, वे केवल अर्थ की ओर इशारा देता है। सन्दर्भ के अनुसार शब्द का अर्थ समझने का काम अनुवादक का है।

"अनुवाद मानव की मूलभूत एकता का, व्यक्ति चेतना एवं विश्वचेतना के अद्वैत का प्रत्यक्ष प्रमाण है।"[35] अर्थात अनुवाद एक सांस्कृतिक सेतु का भी काम करता है। अनुवाद विभिन्न संस्कृति और भाषा को जोड़ता है। इसलिए विश्वसंस्कृति के विकास में अनुवाद का योगदान बहुत महत्वपूर्ण है, सिर्फ संस्कृति के नहीं भाषा के विकास में भी अनुवाद का बहुत बड़ा हाथ है। भाषा हर समय परिवर्तित होती रहती है। भाषा का इस परिवर्तन का एक कारण अनुवाद भी है। धर्म, समाजशास्त्र, राजनीति, व्यवसाय, शिक्षा, वाणिज्य, विज्ञान, दर्शन आदि के साथ अनुवाद का अटूट सम्बन्ध है। विश्व भर की संस्कृति और भाषा एक दूसरे से कहीं न कहीं जुडी हुई है, एक दूसरे की पूरक भी है। इसका आदान-प्रदान ज़रूर अनुवाद के ज़रिये ही संपन्न हो पाया है। यूरोप के नवजागरण पर ग्रीक एवं लैटिन ग्रंथों के अनुवाद का बहुत प्रभाव पड़ा।

35.जी.गोपीनाथन, अनुवाद सिधांत एवं प्रयोग, पृ.सं.9

इन ग्रंथों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसका प्रभाव भारत पर भी ज़रूर पड़ा है।

अनुवाद गवेषण तक में मदद करता है। बाइबिल, पंचतंत्र आदि का अनुवाद दरअसल साहित्य और ज्ञान के क्षेत्र में नए आन्दोलन समान था। अनुवाद एक ऐसा माध्यम है जो विभिन्न भाषाओँ में उपलब्ध ज्ञान के प्रति लोगों में जिज्ञासा पैदा करता है। अनुवाद कार्य ने भारत जैसे बहुभाषी देश में बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इसके कारण भारत के अन्य भाषाओँ को पढ़ने में लोग रूचि रखने लगे तथा संस्कृति को समझने में भी यह सहायक बना। नहीं तो भारत के लोग स्वयं देश की जानकारी रखने में और अन्य राज्य के लोगों को पहचानने में असमर्थ हो जाते। 'वसुधैव कुटुम्बकम' की अवधारणा इसी से सफल हो सकती है।

निरंतर अभ्यास से ही एक अनुवादक सफल अनुवादक बनता है। एक अनुवादक ही अनुवाद करने की कठिनाइयां बता सकता है जैसे कि किन समस्याओं से गुजरना पड़ा, किन विधि एवं अनुवाद प्रकारों को अपनाना पड़ा आदि। अनुवाद कई प्रकार के होते है अर्थानुवाद, भावानुवाद, छायानुवाद, शब्दानुवाद, आशु अनुवाद, शब्द प्रति शब्द अनुवाद आदि। पाठ और सन्दर्भ के अनुसार अनुवादक को तय करना है कि वह किस प्रकार की विधि को अपनाये। अनुवाद करते समय जो समस्याएँ सामने आती है, उसका हल निकालना अनुवादक का कर्तव्य एवं कलाकारी है। अनुवाद के उपरांत अधिक स्पष्टता एवं विस्तार के लिए पाठ का विश्लेषण किया जाता है। यह विश्लेषण कार्य अनुवादक स्वयं करता है या फिर किसी अन्य व्यक्ति से, जिसका उपर्युक्त विषय में ज्ञान हो, करवा सकता है। विश्लेषण के द्वारा ही स्रोत एवं लक्ष्य भाषा का व्याकरणगत एवं शैलीकृत अंतर पर विचार हो पाता है। यह विश्लेषण कार्य 'दलित सौन्दर्यशास्त्रम' नामक पुस्तक की आलोचना में भी लाभदायक सिद्ध होता है।

3.2 अनुवाद योजना एवं प्रयुक्त विधि

प्रस्तुत अनुवाद केलिए प्रयुक्त विधि की चर्चा करना अनिवार्य है। 'दलित सौन्दर्यशास्त्रम' शीर्षक पुस्तक के अनुवाद को पूर्ण करने के लिए भावानुवादकी योजना अपनाई गयी है। अनुवाद करने से पहले पाठ सन्दर्भ शैली भाषा आदि को ठीक तरह से परखना चाहिए, ताकि अनुवाद की विधि तय कर सके। मलयालम और हिंदी दोनों भारतीय भाषायें होने के बावजूद इन भाषाओं में सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों की दृष्टि से कई भिन्नताएँ है। इसलिए मैंने पहले मूल पाठ के सन्दर्भ को समझा तथा उसका भावानुवाद हिंदी में करने का प्रयास किया। भावानुवाद के साथ ही संदर्भानुसार शब्दानुवाद, लिप्यन्तरण आदि का प्रयोग भी किया है। क्योंकि मूल पुस्तक सैद्धांतिक पुस्तक है इसमें ज़्यादातर काव्यशास्त्रीय और सौन्दर्यशास्त्र सम्बन्धी सिद्धांतों की चर्चा की गयी है। तो कुछ जगहों पर भावानुवाद करना मुमकिन नहीं था। मूल पुस्तक में क्षेत्रीय शब्दावली का भी प्रयोग हुआ है जिसका हिंदी में सामान शब्द उपलब्ध नहीं है। प्रस्तुत पुस्तक में कुछ सर्वेक्षण (survey) के रपट भी उल्लिखित है उसका संदर्भानुसार शब्दानुवाद हुआ है। प्रस्तुत पुस्तक में कुछ कविताओं का भी उल्लेख हुआ है। जैसे पुस्तक के 'दलितों की उत्तराधुनिकता' शीर्षक तीसरे अध्याय में मलयालम कवि 'वल्लत्तोल' की 'गणपति' नामक कविता का उल्लेख हुआ है जिसका भाव समझकर कविता के रूप में ही रूपांतरित करने का मैंने प्रयास किया है। कुछ उक्तियों का सारानुवाद किया है। कुछ सांस्कृतिक एवं क्षेत्रीय शब्द जैसे 'तरवाडू', 'कावू' 'तेय्यम' तिरा' आदि शब्दों का लिप्यान्तरण किया गया है क्योंकि हिंदी में उनका हिंदी में पर्यायवाची शब्द उपलध नहीं है।

'दलित सौन्दर्यशास्त्रम' में प्रयुक्त भाषा कठिन है, इसलिए मेरी मातृभाषा मलयालम होकर भी कुछ सिद्धांतों का तथा कुछ तथ्यों को समझने में दिक्कत मुझे हो रही थी। इसलिए तथ्यों के भाव को समझकर अनुवाद करना आवश्यक है। अन्य भाषा से लेकर अनुवादित कुछ उक्तियों का एवं कविता की पंक्तियों

का भी उल्लेख प्रस्तुत पुस्तक में हुआ है उसको फिर से हिंदी में अनुवाद करना पड़ा। जैसे कि कुछ मराठी कविताओं का अनुवाद उदहारण के रूप में दिया हुआ है - 'प्रतिमाओं की बातचीत' नामक अध्याय में मराठी कवी दया पवार की कविता 'बुद्ध' का मलयालम अनुवाद दिया हुआ है, उसका फिर से हिंदी में अनुवाद करने का प्रयास किया गया है।

एक अनुवादक को कम से कम दो भाषाओँ का ज्ञान होना चाहिए। इस अनुवाद को सफल एवं पूर्ण बनाने के लिए मलयालम एवं हिंदी का ज्ञान आवश्यक है। वैसे केरल के स्कूल में हिंदी मुख्य रूप से सिखायी जाती है। केरल के लोग सामान्यतः अन्य भाषा को सीखने में रूचि रखते। वे लोग हिंदी समझे या न समझे पढ़ना लिखना तो ज़्यादातर लोगों को आता है। किसी भी भाषा को तथा अन्य भाषा भाषी लोगों को स्वीकारने की प्रकृति केरल के लोगों में है।

हिंदी और मलयालम इन दोनों भाषाओँ के सन्दर्भ में डॉ एन.ई. विश्वनाथन अय्यर का मानना है कि दोनों भाषाओँ में तत्सम शब्द मिलते है, तथा मलयालम और हिंदी दोनों के वर्णमाला प्रायः समान है, दोनों भाषाएँ मूल रूप से संस्कृत व्याकरण को स्वीकार किया है गया है, तथा कालांतर में अंग्रेज़ी के व्याकरण सिद्धांतों को भी स्वीकार किया है। यानी दोनों भाषाएँ एवं व्याकरणगत रूप से अनेक समानतायें रखती है। केरल के लोगों के हिंदी के उच्चारण में बहुत अंतर है, जैसा लिखा होता है वैसा वे लोग पढ़ते है। यह मातृभाषा का प्रभाव है, यह कहीं-न-कहीं उनके लिए समस्या पैदा कर देती है। जैसे कि मातृभाषा के प्रभाव के बारे में पहले कहा गया है "भ" का उच्चारण दोनों में एक जैसे होने के बावजूद "ब" का उच्चारण करते है उसी तरह "ख" की जगह "ग" का उच्चारण अदि कुछ उदाहरण है। संस्कृत की तरह शब्द का अंत मलयालम में भी "म" से होता है, जबकि हिंदी में ऐसा नहीं है जैसे 'स्वागतम', हिंदी में इसे 'स्वागत' कहते हैं, 'समरम' को 'समर' आदि। उस तरह एक अर्थ वाले समान शब्दों में कुछ दीर्घान्त और ह्रस्वांत होता है। उदहारण के लिए

मलयालम में ‘नदि’, ‘राणि’ आदि ह्रस्वांत है हिंदी में आते आते ‘नदी’ राणी’ दीर्घान्त बनता है। इस प्रकार छोटी छोटी भिन्नताएँ साधारण जनता के मन में सन्देह पैदा कर देता है।

मलयालम और हिंदी में कुछ समानताएँ हैं जो अनुवाद में सहायक सिद्ध होता है। इस तरह के सामान तत्सम वाले शब्दों का वैसा ही प्रयोग अनुवाद में भी मैंने किया है। कहीं न कहीं ये समानताएँ अनुवाद की प्रक्रिया को आसान बनाता है। मूल पुस्तक में भाषा क्लिष्ट संस्कृत निष्ट भाषा का प्रयोग किया गया है। लेकिन कुछ वाक्यों का सन्दर्भ समझे बिना शाब्दिक अनुवाद किया तो अर्थ का अनर्थ हो जाएगा, इलसिए मैंने भावानुवाद का ही अधिक आश्रय लिया है।

3.3 अनुवाद का विश्लेषण

जैसे कि पहले कहा गया है, अनुवाद के बाद अनुवाद का विश्लेषण करना बहुत आवश्यक है। इससे स्वयं अनुवादक को तथा भविष्य में पाठ पर किये जाने वाले गवेषण में भी बहुत लाभदायक सिद्ध होगा। अनुवाद के विश्लेषण के अंतर्गत अनूदित पाठ का भी विश्लेषण आता है, अर्थात कथ्यपरक विश्लेषण।

3.3.1 पाठ का विश्लेषण

प्रदीपन पम्बिरिक्कुन्नु द्वारा मलयालम में निबंध संग्रह है ‘दलित सौन्दर्यशास्त्रं’। इसका अनुवाद करते समय मुझे कई समस्याओं का सामना करना पड़ा।

वास्तव में दलित सौंदर्यशास्त्र संबंधी पुस्तकों की रचना पहले से ही अन्य भाषा में हुई है। जैसे कि मराठी एवं हिंदी में ‘दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र’ लिखा गया है। यह मलयालम का पहला ‘दलित सौन्दर्यशास्त्र’ सम्बन्धी पुस्तक

है। 'दलित सौन्दर्यशात्रम' शीर्षक प्रस्तुत पुस्तक मलयालम दलित साहित्य में पहला और नया पड़ाव है। इसका कथ्य अनुवाद करने केलिए अनुवादक को प्रेरित करता है। इसके कथ्य और नएपन ने शोध विषय के रूप में तथा अनुवाद के तौर पर पुस्तक को चुनने में मुझे प्रोत्साहित किया। कथ्यपरक विश्लेषण से पाठ का बेहतर अध्ययन करने में और आसानी होगी। इसके अंतर्गत पाठ के अध्यायों के नामकरण की चर्चा की जाएगी तथा पुस्तक में लेखक द्‌वारा उठाई गयी मुख्य समस्याओं का भी विश्लेषण किया जायेगा।

- **शीर्षक**

किसी पुस्तक का शीर्षक एक महत्वपूर्ण अंग होता है। शीर्षक कुछ शब्दों में रचना का बेहतरीन परिचय देता है। शीर्षक आकर्षक होना चाहिए, शीर्षक भी पाठक को पुस्तक को चुनने में सहायता करता है। शीर्षक का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है। शीर्षक का अनुवाद करते समय अनुवादक को और अधिक जागरूक रहना चाहिए। शीर्षक का ऐसा अनुवाद करें जो मूल पाठ के शीर्षक और कथ्य की आत्मा को जीवित रख सके, साथ साथ लक्ष्य भाषा की शैली के साथ उसका तालमेल भी होना चाहिए।

'दलित सौन्दर्यशास्त्रम' नामक प्रस्तुत पुस्तक का शीर्षक मलयालम और हिंदी में सामान होने के कारण मुख्य शीर्षक का अनुवाद करने की अवश्यकता अनुवादक को नहीं पड़ती है। किन्तु जैसे कि पहले कहा गया है कि मलयालम के 'म' कारांत के बारे में। प्रस्तुत निबंध संग्रह का शीर्षक है 'दलित सौन्दर्यशास्त्रम' जब यह हिंदी में रूपांतरित करेंगे तो अधिक अंतर नहीं आयेगा, अंत का 'म' हटाकर 'दलित सौंदर्यशास्त्र' नाम दे सकते है। वास्तव में इस पुस्तक में दलित साहित्य और कला के सौंदर्य संबंधी अवधारणाओं की चर्चा की गयी है इसलिए इसका शीर्षक सटीक बैठता है। इस शीर्षक के अंतर्गत सम्पूर्ण

पुस्तक की समीकरण है। इस पुस्तक में कुल मिलाकर चौदह अध्याय है। इसलिए प्रत्येक निबंध का अलग अलग अनुवाद करना आवश्यक है, तथा अनुवाद करते समय अर्थ का ध्यान रखना की भी आवश्यक है। पुस्तक के चौदह निबंधों का शीर्षक का अनुवाद इस प्रकार है।

1. भारतीय सौन्दर्यशास्त्र और सवर्णानुभूति
2. क्षेत्रीय आख्यान और तरवाडू (कोठी) का सांस्कृतिक मूल्य
3. दलितों की उत्तराधुनिकता
4. कलापरिणामों का समाजशास्त्र
5. साहित्य इतिहास हमसे क्या कह रहे थे
6. दलित संस्कृति और सार्वभौमिक समाज
7. सौन्दर्यशास्त्र के वर्णाश्रम
8. प्रतिमाओं की बातचीत
9. कला और आदिवासी
10. भाषा और उपनिवेश
11. नवजागरण जब दलित लिखते है
12. धरती के अधिकारी
13. केरल में जाति एक बयान
14. व्यक्ति, स्वत्व, कर्तृत्व-एक दलित चिंतन

इन चौदह निबंधों का शीर्षक उसके कथ्य के अनुसार ही दिया हुआ है। इन निबंधों में केवल दलित कला साहित्य के बारे में नहीं बल्कि केरल में उनकी सामाजिक स्थिति, आर्थिक-सांस्कृतिक व्यवस्था आदि परिप्रेक्ष्य में भी लेखक ने प्रकाश डाला है।

- **पाठ में चित्रित मख्य समस्याएँ**

'दलित सौन्दर्यशास्त्रम' शीर्षक पुस्तक में चौदह अध्याय समाहित हैं। पहले अध्याय में संस्कृत के सवर्ण सौन्दर्यानुभूति और समाज में उसकी लोकप्रियता पर लेखक सवाल उठाते हैं। क्यों एक ऐसी अवधारणा इतनी प्रचलित हो गयी जहाँ साधारण व्यक्ति का और साधारण ज़िन्दगी का कोई स्थान ही नहीं है। ऐसी स्थिति में नयी अवधारणाओं का आना बहुत आवश्यक है। इसलिए दलित सौन्दर्यशास्त्र का उदय होना सामान्य बात है तथा समाज की मांग है, और यह लम्बेसमय तक प्रासंगिक भी रहेगा। मिथ्या की तरफ मनुष्य की लालसा का कारण केवल वास्तविकता से भागना है। पाठ में केरल के सवर्ण परिवार के इतिहास का भी चित्रण लेखक करते है। सवर्ण परिवार का इतिहास किस तरह साहित्य का भी आधार बनता है, तथा किस तरह पूरे केरल का इतिहास बन जाता है आदि की चर्चा भी इसमें है। केरल के दलित आदिवासी कलाओं में किस तरह बाज़ार का प्रभाव आया है, इस पाठ में चित्रित एक और मुख्य समस्या है। केरल में लोक कलाओं पर हुए बाजारीकरण का प्रभाव वास्तव में कला के साथ साथ कलाकार पर भी पड़ा है, कला का कालांश नष्ट हो जाता है। यहाँ लेखक स्वयं लोक एवं दलित कला को लेकर चिंतित नज़र आ रहे है। सौन्दर्यशास्त्र में वर्णाश्रम किस तरह अपना अधिकार जता रहा है इसकी भी चर्चा लेखक करते हैं। दलितों की नज़रों से किस तरह नवजागरण होता है इसका भी स्पष्ट चित्रण दिया हुआ है। लेखक का भी मानना है कि, नवजागरण और आधुनिकता का निर्माण एक दलित के सपनों से होना चाहिए।

भाषा

साहित्य की तरह अनुवाद का मूल भाषा है। एक भाषा में की गयी रचना को दूसरी भाषा में ले जाना अनुवाद का काम है। मूल पाठ की भाषा को स्रोत भाषा (source language) और अनूदित पाठ को लक्ष्य भाषा (target

language) कहते है। इन् दोनों भाषाओं के बीच में अनुवाद की प्रक्रिया होती है। अनुवाद में भाषा ही मुख्य तत्व है और मुख्य समस्या भी।

अनुवाद करते समय सबसे बड़ी समस्या भाषा की ही होती है। किसी भी भाषा की अपनी शैली, संस्कृति और रीति होती है। भाषा इन्हीं तत्वों से बनती है। इसलिए एक भाषा को दूसरी भाषा में रूपांतरित करने का तात्पर्य इन सभी तत्वों को दूसरी भाषा में लाना होता है। प्रस्तुत निबंध 'दलित सौन्दर्यशास्त्रं' विशेषकर केरल के परिप्रेक्ष्य में लिखी गयी है। इसलिए संस्कृति का पूरा प्रभाव है। इसलिए भाषा के सांस्कृतिक पक्ष अनुवाद के समय सबसे बड़ी चुनौती थी। हिंदी का सम्बन्ध आर्य संस्कृति से जुडा है, जब कि मलयालम एक द्रविड़ भाषा है। दोनों भाषाओँ में तत्सम शब्दों की बहुलता है। हिंदी में उर्दू का भी प्रयोग होता है। प्रस्तुत पुस्तक में आम बोली और नामों का प्रयोग किया है और तत्सम शब्दों की भी बहुलता है। लेखक ने क्लिष्ट वाक्यों का निर्माण किया है। इसका जब हिंदी में अनुवाद करते समय मैंने हिंदी की वाक्य संरचना का पालन किया है। दोनों भारतीय भाषा होने के कारण संरचना में अधिक अंतर नहीं है। मैंने उनको सरल रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इसलिए भाषा की उन इकाईयों का भी विश्लेषण करना ज़रूरी है।

3.2.2. शब्द प्रयोग

भाषा की मत्वपूर्ण एवं सार्थक इकाई है शब्द। शब्दों के संदर्भानुसार प्रयोग से ही भाषा का अर्थ निकलता है। शब्द अनेक ध्वनियों से बनता है। ध्वनियों की सही संरचना से ही शब्द अर्थपूर्ण होता है। जैसे पहले कहा गया है कि 'दलित सौन्दर्यशास्त्रम' शीर्षक प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने तत्सम शब्दों का प्रयोग किया है, उसके साथ आम बोलियों का भी संदर्भानुसार प्रयोग किया है, उनके अनुवाद में बहुत दिक्कत हुई, उन शब्दों की विश्लेषण करना ज़रूरी है।

1 'तरवाडू'[36] - इसका सम्बन्ध केरल की संस्कृति से है क्योंकि तरवाडू का संकल्प सिर्फ केरल में है। हिंदी में इसका अर्थ 'कोठी' के साथ जोड़ सकते है। तरवाडू एक ऐसा घर है जो पूर्वजों के समय से अनेक पीढियों तक रहते आ रहे है। वास्तव में यह संकल्प केवल 'नायर' जाति (केरल के एक तथाकथित सवर्ण जाति) के अंतर्गत स्थित था, किन्तु बाकि जातियों ने संस्कृति और ट्रेडिशन के नाम पर उसका स्वीकार कर लिया है।

2. 'वल्लूवनाडू'[37] - यह वास्तव में मलबार एक प्रत्येक क्षेत्र को कहा जाता था। जिसमें मलप्पुरम और पालक्काड आदि जिलाएँ आते हैं। आज वल्लूवनाडू शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता है।

3. 'तेय्यम', 'तिरा', 'कावू'[38] - यह केरल के अनुष्ठान से सम्बंधित शब्द है। और यह अनुष्ठान केवल दलित और आदिवासियों के अंतर्गत निहित है। 'तेय्यम', तिरा एक ऐसी अनुष्ठान कला है जो दलित और आदिवासियों के बीच में मनाया जाता है। तेय्यम शब्द 'दैवं' शब्द का प्राकृत रूप है। इनकी आराधना की रीति एवं संकल्प सवर्णों से भिन्न है, तथा रीति रिवाज़ भी अलग है। तेय्यम और तिरा जहाँ किया जाता है उस प्रत्येक स्थल को 'कावू' बोलते है हिंदी में इसका अर्थ 'मंदिर' शब्द के साथ जोड़ सकते है किन्तु इसका परिवेश बिलकुल भिन्न हैं। मदिर की इश्वर प्रतिष्ठा की भांति यहाँ कोई मूर्ती नहीं होती है, 'कावू' का माहौल भी अलग है। यह स्थल प्रकृति से जुडा हुआ है। इसलिए कावू आधिक रूप से जंगलों के अन्दर पाया जाता है। लेकिन आज उनका रूप सवर्ण संस्कृति के उपनिवेश के कारण बदलकर जंगलों से काफी अलग होने लगा है।

36.दलित सौन्दर्यशास्त्रम, प्रदीपन पम्बिरिक्कुन्नु पृ.सं.16

[37] पृ.सं.18

[38] पृ.सं.32

4.'चेंड़ा', 'कुरुंकुषल', 'इलात्तालम'[39] - यह ताल वाद्य उपकरणों का नाम है, विशेषकर 'तेय्यम' 'तिरा' जैसे अनुष्ठानों में इसका उपयोग करते हैं। इनके ताल का ढाँचा (Rhythem pattern) अन्य कला के तालों से भिन्न है।

5.'पाणन पाट्टू', 'पुलयन पाट्टू', 'वेडन पाट्टू', 'माप्पिला पाट्टू'[40] - 'पाट्टू' का अर्थ है गाना (song) पाणन, पुलयन, वेडन, परयन आदि दलित आदिवासी जातियों का नाम है। उनके बीच में प्रचलित गानों को जाति के नाम से जाना जाता है, इसकी में भाषा तमिल, कन्नड़ मलयालम आदि भाषाओं का प्राकृत मिश्रण मिलता है। 'माप्पिला पाट्टू' मलाबार मुस्लिम के बीच में प्रचलित है।

6.अधःकृत[41] - प्रस्तुत पुस्तक में दलितों के लिए 'अधःकृत' का भी प्रयोग किया है। किन्तु अनुवाद करते समय दलित मैंने शब्द का ही प्रयोग किया है।

7.'चरित्र'[42]- इस शब्द का प्रयोग हिंदी और मलयालम दोनों में किया जाता है, किन्तु दोनों भाषाओं में इसका अर्थ भिन्न है। मलयालम में 'चरित्र' का अर्थ है इतिहास हिंदी में इसका अर्थ एक पात्र के चरित्र (charecter) होता है।

8.'समूह' - मलायम और हिंदी में इस शब्द का प्रयोग होता है। किन्तु हिंदी में इसके लिए समाज शब्द का प्रयोग किया जाता है। मलयालम में समाज के लिए 'समूह' शब्द का प्रयोग होता है।

9. 'मुंडा', 'पच्चकुत्त'[43] - मुंडा केरल के एक आदिवासी वर्ग का नाम है, हिंदी मुंडा एक बोली का नाम है। पच्चकुत्त का मतलब है 'tattoo' करना।

10. बदल - 'बदल' शब्द का अर्थ जो हिंदी में है उसी अर्थ में मलयालम में भी किया जाता है।

---

[39] दलित सौन्दर्यशास्त्रम, प्रदीपन पम्बिरिक्कुन्नु, पृ.सं.23

[40] पृ.सं.

[41] पृ.सं.23

[42] पृ.सं.50

13.दलित सौन्दर्यशास्त्रम, प्रदीपन पम्बिरिक्कुन्नु, पृ.सं.59

11. 'गद्दिका'[44] - यह केरल के आदिवासियों की एक गोत्र कला का नाम है।

12. प्रस्थान - हिंदी और मलयालम में 'प्रस्थान' शब्द का प्रयोग किया जाता है किन्तु भिन्न अर्थ में। हिंदी में इसका अर्थ है 'रवाना होना', मलयालम में 'प्रस्थानम' का अर्थ है 'आन्दोलन'।

शब्द के अन्य इकाईयों का विश्लेषण भी आवश्यक है।

- **वर्णमाला**

मलयालम और हिंदी के वर्णमाला का आधार सामान है, किन्तु मलयालम में कुछ अतिरिक्त अक्षर पाया जाता है जो हिंदी में नहीं है। उदाहरण के लिए मलयालम में 'र' का दो रूप है। 'ष' के नीचे एक बिंदु डालकर एक और अक्षर बनाया जाता है इसका उच्चारण कुछ लोग कर भी नहीं पाते है। 'ल' का दो रूप है एक है 'ळ' इसका प्रयोग मराठी में भी मिलता है। और भी अतिरिक्त अक्षर है उसको 'चिल्लक्षरं' कहा जाता है। हिंदी में इस तरह कुछ अक्षर न होने के कारण टंकण में दिक्कतें हुई थी।

- **उच्चारण**

समान लिपि चिन्ह होने पर भी कुछ वर्ण ऐसे है जिसका संदर्भानुसार उच्चारण बदल जाता है। उदाहर केलिए 'न' शब्द का मलयालम में दो तरीके से उच्चारण होता है एक 'दंतव्य' रूप से एक संयुक्त अक्षर के रूप से 'न्न'। उस तरह 'ज्ञ' का उच्चारण मलयालम में इसका उच्चारण 'ज्+ञ' होता है।

- **अनुस्वार**

  मलयालम भाषा में संस्कृत के प्रभाव के कारण शब्दों के पीछे अनुस्वार का प्रयोग अधिक किया जाता है, जबकि हिंदी में यह प्रवृत्ति अधिक रूप

44.पृ.सं.61

से प्रचलित नहीं है। इसलिए अनुवाद के समय इन बिन्दुओं पर भी ध्यान रखना चाहिए।

जैसे: शास्त्रं - शास्त्र, चरित्रं - चरित्र, देशम - देश

- **लिप्यंतरण**

जैसे कि पहले कहा गया है मलयालम के कुछ आम बोली के शब्द का हिंदी में समान शब्द ढूँढना मुश्किल है इसलिए उन शब्दों का उसी रूप में हिंदी में लिप्यन्तरण किया है। उसी तरह केरल की कुछ क्षेत्रों का नाम कुछ मलयालम रचनाओं का नाम आदि का हिंदी में अनुवाद करते समय लिप्यंतरण किया गया है। उदा: 'तरवाडू'[45], 'निला नदी'[46] (केरल की एक नदी का नाम है), 'उरूब'[47] (लेखक का नाम)।

3.2.3. वाक्यनिर्माण

डॉ एन.ई. विश्वनाथन अय्यर के अनुसार "भारतीय भाषाओँ की वाक्यसंरचना प्रायः समान है। इसलिए भारतीय भाषा की सामग्री दूसरी भारतीय भाषा में अनूदित करना अपेक्षाकृत सरल माना जाता है।"[48] मलयालम और हिंदी दोनों की सरचना देखते है - कर्ता, कर्म, और क्रिया का क्रम दोनों में एक समान है।

उदा. सुरेष (कर्ता) स्कूलिलेक्क (कर्म) पोकुन्नु (क्रिया) - मलायालम

सुरेष (कर्ता) स्कूल (कर्म) जा रहा है (क्रिया) - हिंदी

45.दलित सौन्दर्यशास्त्रम, प्रदीपन पम्बिरिक्कुन्नु, पृ.सं.16

46.पृ.सं.17

47.दलित सौन्दर्यशास्त्रम, प्रदीपन पम्बिरिक्कुन्नु, पृ.सं.19

48. डॉ एन.ई.विश्वनाथन अय्यर, अनुवाद की समस्याएँ पृ.सं.200

हिंदी में क्रिया के साथ 'सक', 'चाहिए' आदि का प्रयोग किया जाता है, जबकि मलयालम में इनका प्रयोग अनावश्यक माना जाता है। इसलिए शब्दानुवाद करने पर इन शब्दों का अर्थ अनर्थ हो जाता है।

मलयालम में हिंदी भाषा की तरह 'ने' का प्रयोग नहीं होता। हिंदी मलयालम से हिंदी में अनुवाद करते समय जहाँ 'ने' का प्रयोग होना चाहिए, जहाँ नहीं इसका व्याकरणिक ज्ञान अनुवादक को होना चाहिए। अर्थात दोनों भाषाओं के व्याकरण का ज्ञान अनुवादक को होना आवश्यक है।

वाक्य संरचना में वास्तव में और भी इकाईयां आती है। शब्द भी वाक्य की एक मुख्य इकाई है। हिंदी और मलयालम में एक जैसे शब्द होने पर भी कभी कभी वे भिन्नार्थक भी हो सकता है। इसका ध्यान रखना और संदर्भानुसार इसका वाक्य में प्रयोग करना अवश्यक है। शब्दों की चर्चा ऊपर की गई है। वाक्यसंरचना के अन्य इकाईयों पर भी नज़र डालना ज़रूरी है।

- **लिंग**

वाक्य संरचना में शब्द के लिंग का ज्ञान होना अनुवादक के लिए बहुत ज़रूरी है। एक अन्य भाषी के लिए हिंदी में सबसे बड़ी समस्या लिंग की होती है। मलयालम भाषा में संस्कृत की तरह तीन प्रकार के लिंग है - पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग जब कि हिंदी में मुख्य रूप से दो लिंग है पुल्लिंग और स्त्रीलिंग। निर्जीव एवं अमूर्त भावों के बोधक शब्दों को नापुंसकलिंग माना गया है। मलयालम में लिंग निर्णय का आधार क्रिया नहीं है, ना कि लिंग के अनुसार क्रिया बदलती है। मलयालम में लिंग का कोई आधार नहीं होता। कुछ शब्द ऐसे भी है जो हिंदी में पुल्लिंग और मलयालम में स्त्रीलिंग होता है।

हिंदी में 'विधि' शब्द स्त्रीलिंग है मलयालम में पुल्लिंग, 'पत्थर' शब्द मलयालम में नपुंसकलिंग है हिंदी में पुल्लिंग। 'देह' शब्द मलयालम में नपुंसकलिंग है हिंदी स्त्रीलिंग।

हिंदी वाक्य संरचना में लिंग कर्ता कर्म के अनुसरण करता है। और लिंग के अनुसार क्रिया में भी परिवर्तन होता है, तब कर्ता का लिंग नहीं कर्म का लिंग महत्वपूर्ण हो जाता है। मलयालम में लिंग की कोई चिंता नहीं है क्योंकि क्रिया स्वतंत्र है। संज्ञा के आधार पर ही लिंग को सूचित करता है। इस प्रकार के वाक्य पूरे निबंधों में दिखाई देता है।

सर्वनाम की जब बात करती है तो दोनों की लिंग व्यवस्था में अंतर है। हिंदी में वह (पु, स्त्री, न.पुं) शब्द का अर्थ मलयालम में कमशः 'अवन' (He), 'अवल' (She), 'अतु', 'आ' (That) है। मलयालम लिंग सर्वनाम से ही समझ सकते है। हिंदी में इसका लिंग केवल क्रिया से ही पता चलता है।

- **वचन**

किसी वस्तु की संख्या का बोध कराने के लिए वचन का प्रयोग किया जाता है। हिंदी और मलयालम में वचन संकल्प में काफी अंतर है। मलयालम में वचन को लिंग के साथ जोड़कर देखा जाता है। जब एक लिंग के साथ बहुवचन का योग होता है तो 'सलिंग बहुवचन', दोनों लिंगों के योग के समय 'अलिंग बहुवचन', आदर सूचक शब्दों के समय 'पूजक लिंग बहुवचन'। हिंदी भाषा में किसी एक वास्तु या व्यक्ति को सूचित करने के लिए एक वचन का प्रयोग करते है। एक से अधिक वस्तु या व्यक्ति के लिए बहुवचन। मलयालम जहाँ संज्ञा का प्रयोग एकवचन में होता है, हिंदी में वह बहुवचन में परिवर्तित हो जाता है। हिंदी में व्यक्ति वाचक क्रियाएँ बहुवचन में आती है। आदर सूचक केलिए हिंदी और कभी कभी मलयालम में बहुवचन का प्रयोग किया जाता है। किन्तु हिंदी की भांति मलयालम वचन के अनुसार क्रिया में कोई परिवर्तन नहीं आता।

- **कारक**

अनुवाद के समय मलयालम कारकों को हिंदी में रूपांतरित करते समय विशेष ध्यान देना पड़ता है। दोनों भाषाओं में कारकों की भिन्न भिन्न परंपरा है। उदाहरण के लिए 'रामन् श्यामये (श्यामा का) कात्तिरिक्कुन्नु' (मलयालम)।

'राम श्यामा का इंतज़ार करता है' (हिंदी)।

हिंदी में अनुवाद करते समय 'का', 'के', 'की', आदि कारकों की सही रूप से प्रयोग करना चाहिए जबकि मलयालम में इसका अधिक समस्या नहीं। हिंदी में लिंग वचन आदि के अनुसार भी यह बदल जाता है। जैसे राम का बेटा, की बेटी, का घर आदि।

- **सर्वनाम**

यह एक निबंध संग्रह होने के कारण सर्वनामों का बहुत कम प्रयोग हुआ है। इसमें तथ्यात्मक रूप से विवरण है। फिर भी कहीं कहीं सर्वनामों का प्रयोग ज़रूर हुआ है। हिंदी में 'वह' या 'उसका' लिंग समझने के लिए अंत में कोई शब्द जोड़ना पड़ता था, जबकि मलयालम में इसकी आवश्यकता नहीं है।

उदा: "इवने ओरु नल्ला मनुष्यनायी वलर्त्तणम"[49] - मलयालम
"इसको एक अच्छे इंसान बनाना है" (हिंदी अनुवाद, यहाँ संज्ञा पुल्लिंग है)।

- **क्रिया**

अनुवाद करते समय सब से बड़ी समस्या क्रिया की होती है, क्योंकि हिंदी क्रिया कर्ता, कर्म के लिंग के अनुसार बदलती है। इसलिए कर्म का लिंग का ज्ञान होना बहुत ज़रूरी है। किन्तु मलयालम में स्थिति अलग है, यहाँ क्रिया

49.दलित सौन्दर्यशास्त्रं, प्रदीपन पम्बिरिक्कुन्नु, पृ.सं.18

स्वतंत्र है। इसलिए दोनों भाषाओँ के शैली के अनुसार वक्य संरचना में भी परिवर्तन होती है। उदाहरण के लिए

"...वक्रमाय अभिधयाण सौन्दर्यम एन्न अतु नूटान्डुकलाई स्थपिक्कान श्रमिचु"[50] (मलयालम)

"...सदियों से यह स्थापित करने की कोशिश की गयी कि वक्रता ही सौन्दर्य है।" (हिंदी अनुवाद)

मलयालम में वचन या कर्म के लिंग के अनुसार क्रिया में कोई परिवर्तन नहीं होता है, किन्तु हिन्दी में 'कोशिश' शब्द के अनुसार क्रिया 'की' हो गयी। इसलिए अनुवादक को कर्म का लिंग का पता रहना आवश्यक है। अगर 'कोशिश' शब्द के स्थान पर 'प्रयास' शब्द का प्रयोग किया होता तो 'की' की जगह 'किया' होता क्योंकि 'प्रयास' शब्द पुल्लिंग है।

मलयालम का व्याकरण प्रत्यक्ष में सरल लगने पर भी लक्ष्य भाषा के अनुसार उसको परिवर्तित करना अनिवार्य है।

- **समुच्चयबोधक**

हिंदी में और मलयालम में समुच्चय बोधक का प्रयोग किया जाता है। मलयालम में शब्द के अंत में जोड़ा जाता है, हिंदी में समुच्चयबोधक शब्द अलग से जोड़ा जाता है। मलयालम का प्रमुख समुच्चय बोधक शब्द है - उं, ओ, एन्नाल, पक्षे, एन्किलुम, अतुकोंडू, एन्तुकोंडेन्नाल आदि। हिंदी के मुख्य समुच्चय बोधक है - ही, मगर, और, या, इसलिए, क्योंकि।

उदा: "ई भूमी नम्मुडेत<u>ल्लेंगिल</u> नमुक्क एन्गने आकाशत्तेकुरिच सम्सारिक्कान कषियुं?"[51] (मलयालम)

---

50. दलित सौन्दर्यशास्त्रम, प्रदीपन पम्बिरिक्कुन्नु पृ.सं.23

51.दलित सौन्दर्यशास्त्रम, प्रदीपन पम्बिरिक्कुन्नु, पृ.सं.15

"जब यह धरती ही हमारी नहीं है तब आकाश की बात कैसे करें?" (हिंदी अनुवाद)

मलयालम वाक्य में शब्द के साथ में 'एँगिल' शब्द जोड़कर संयुक्त रूप से लिखा गया है।

3.2.3. सम्प्रेषणव्यवस्था

सम्प्रेषण का सबसे महत्वपूर्ण एवं सशक्त माध्यम है भाषा। इसलिए साहित्य का मुख्य इकाई भी भाषा है। अनुवाद एक तरह से अनुवाद भाषा की एक कलात्मक प्रवृत्ति है। एक साहित्य का सम्प्रेषण यूँही नहीं होता है, इसकी भी एक व्यवस्था है। जैसे कि ऊपर भाषा की मुख्य इकाईयों पर चर्चा की गयी हैं। एक साहित्य के सम्प्रेषण में ये सारे तत्व प्रभाव डालते हैं। इनमें से किसी का अभाव अर्थ को अनर्थ कर देता है। भाषा में शब्द वाक्य आदि के अलावा ऐसे कुछ घटक हैं जिसका सम्बन्ध भाषा की संस्कृति तथा इतिहास के साथ होता है। इनके अनुवाद के समय अनुवादक के सामने अनेक कठिनाईयां आती है। एक भाषा के 'मुहावरें' और 'लोकोक्तियाँ' उसके संस्कृति लोग समाज आदि की प्रतिछाया होती है।

प्रस्तुत पुस्तक की सम्प्रेषण-व्यवस्था का विश्लेषण करना आवश्यक है। इस पुस्तक के अनुवाद करने के दौरान मुझे अनेक कठिनाईयों का सामना करना पड़ा। शाब्दिक सम्बन्धी विश्लेषण ऊपर किया जा चुका है। 'दलित सौन्दर्यशास्त्रं' नामक मलयालम पुस्तक केरल के परिप्रेक्ष्य में लिखी गयी हैं। इनमें मुख्य रूप से केरल की दलित आदिवासी संकृति की व्याख्या की गयी है, उसका आलोचनात्मक विवरण दिया है। लेखक ने उदाहरण के तौर पर मलयालम की अनेक रचनाओं के नाम रचाकारों के नाम और पक्तियों का उल्लेख किया है। इसका अनुवाद करते समय कुछ दिक्कतें हुई हैं।

उदा: 'पोय्कयिल कुमारगुरुदेवन'[52] मलयालम का एक दलित लेखक का नाम है इन नामों का उसी तरह अनुवाद में उल्लिखित करते है। किन्तु सम्प्रेषण की समस्या तब पैदा होती है जब गैर मलयाली इस अनुवाद को पढ़ते है। क्योंकि वे लोग मलयालम लेखकों के नाम से और उनके योगदान से वाकिफ़ नहीं होते है। 'एम.टी. वासुदेवन नायर' मलयालम के प्रमुख लेखक है, इनकी पंक्तियों का प्रस्तुत पुस्तक में उल्लेख हुआ है। उसका हुबहू अनुवाद करना मुश्किल है। 'वल्लत्तोल' मलयालम के प्रमुख लेखक है उनकी 'गणपति' नामक कविता का उललेख पुस्तक में दिया हुआ है, कविता के रूप में उसका अनुवाद करने का प्रयास मैंने किया है -

"नवनीत सा शरीर में सुगन्धित तैल लगाकर

हलके वस्त्र पहने वेदिका पर बैठी उस नतांगी ने

त्रिनेत्र के नयनों को दिया आह्लाद का उत्सव" (हिंदी अनुवाद)[53]

मलयालम की कहानियों का नाम सीधा उदाहरण के तौर पर दिया हुआ है, जैसे कि 'गौरी' नामक कहानी का उल्लेख, इसको हिंदी में अनुवाद करते समय सबसे पहले अनुवादक को स्वयं कहानी के बारे में तथा उदाहरण के सन्दर्भ के बारे में पढने की ज़रूरत है। सम्प्रेषण व्यवस्था की इकाई है शब्द वाक्यसंरचना आदि, उसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। एक और मुख्य बिंदु है लोकोक्ति तथा मुहावरों का प्रयोग। यह पुस्तक मुख्य रूप से तथ्यात्मक है, इसके कारण इसमें अधिक रूप से लोकोक्ति और मुहावरों का प्रयोग नहीं हुआ है। सम्प्रेषण में सबसे अधिक समस्या सांस्कृतिक शब्दावली की हुई थी। केरल के दलित आदिवासी कला और साहित्य के परिप्रक्ष्य में होने के कारण सांस्कृतिक अंतर

52.दलित सौन्दर्यशास्त्रम, प्रदीपन पम्बिरिक्कुन्नु, पृ.सं.15

53.पृ.सं.27

ज़रूर है। 'परयन', 'पुलयन', 'मलयन' आदि दलित जातियों का नाम भी उल्लिखित है। मलयालम और हिंदी अनुवाद के बीच का सम्प्रेषण आसान बनाने के लिए भावानुवाद को अपनाया गया है। वाक्यसंरचना में निकटता होने पर भी सांस्कृतिक भाषिक अंतर के कारण शाब्दिक अनुवाद हर जगह ठीक नहीं बैठता है। रचनाकार एवं रचनाओं का नाम, जगहों का नाम, जातियों का नाम कलारूपों का नाम आदि का संदर्भानुसार लिप्यंतरण किया गया है। जब लेखक अन्य रचनाओं के नामों को उद्दत करते हैं जैसे - 'खासाकिंटे इतिहासत्तिले रवि'[54] ('खासाकिंटे इतिहासम' ओ.वी विजयन का उपन्यास) इस वाक्य में लेखक रचना के पात्र को सीधे उल्लिखित किया है। अनुवाद पढ़ने वाले गैर मलयाली पाठक इस रचना से और रचनाकार से परिचित नहीं होते है। इस समय उसको उसी रूप से अनुवाद में भी उतारते है और कोष्ठक में रचना और उसका परिचय एक वाक्य में अनुवादक देते है। क्योंकि सम्प्रेषण को आसान बनाना अनुवादक का उत्तरदायित्व है, क्योंकि उसका असर मूल पाठ पर पड़ता है।

मुहावरे और लोकोक्तियों का निर्माण भाषा की संस्कृति और समाज के अनुसार बनता है। इसलिए उसका शाब्दिक अनुवाद एक भाषा से दूसरी भाषा में करना मूर्खता होगी। एक भाषा के मुहावरे या लोकोक्ति का सामान रूप दूसरी भाषा में भी होगी, उसका प्रयोग करना अनुवादक की ज़िम्मेदारी है।

उदाहरण के रूप में "अन्गाडियिल तोटतिनु अम्मयोड" (मलयालम) इसका शाब्दिक अनुवाद करेंगे तो अर्थ का अनर्थ बन जायेगा, इसके सामान अर्थवाली हिंदी लोकोक्ति है 'नाच न जाने आंगन टेडा"। किन्तु कुछ लोकोक्तियाँ ऐसा भी है जिसका एक ही रूप मलयालम और हिंदी में भी चलता है, जिसका शाब्दिक अर्थ समान होता है। जैसे कि "मिन्नुन्नतेल्लाम पोन्नल्ला" (मलयालम), "हर चमकती चीज़ सोना नहीं होता है" (हिंदी), "All that glitters are not gold" (अंग्रेज़ी)।

54.दलित सौन्दर्यशास्त्रम, प्रदीपन पम्बिरिक्कुन्नु पृ.सं.27

इस तरह भाषिक सामाजिक सांस्कृतिक अंतर समझकर संदर्भानुसार शब्दों के तथा भाषा के प्रयोग से ही अनुवाद सम्प्रेषण आसान होता है। क्योंकि अनुवाद पाठकों से सम्प्रेषण नहीं कर पा रहा है तो अनुवादक के साथ मूल रचना का भी हार हो जाता है। आखिर साहित्य का काम सम्प्रेषण करना भी होता है। इसलिए अनुवाद में सम्प्रेषण ठीक से होना ही महत्वपूर्ण कार्य है।

3.3 अनुवाद की समस्याएँ

अनुवाद करते समय अनुवादक को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। 'दलित सौन्दर्यशास्त्रं' नामक तथ्यात्मक पुस्तक का अनुवाद करते समय कठिनाईयां ज़रूर हुई है। उन कठिनाइयों को मुख्य रूप से दो हिस्सों में बांटा जा सकता है, 1) सांस्कृतिक शब्दावली, 2) अननुवदनीयता। पाठ के विश्लेषण का मुख लक्ष्य समस्यायों का भी विश्लेषण होता है। ताकि पाठ के सारांश को अच्छे से समझ सकें तथा दुबारा अन्य रचना का अनुवाद करते समय अनुवादक अपनी कमियों को सुधार सकें।

3.3.1 सांस्कृतिक शब्दावली

'दलित सौन्दर्यशास्त्रम' नामक पुस्तक का अनुवाद करते समय मेरे सामने सबसे बड़ी समस्या सांस्कृतिक शब्दों की ही हुई थी जैसे- केरल के विभिन्न जातियों का नाम, जगहों का नाम, लेखक तथा रचनाओं का नाम, त्योहारों का नाम, जातीय कलारूपों का नाम आदि। कुछ शब्दों का उल्लेख 'शब्द प्रयोग' शीर्षक अध्याय में किया गया है।

यहाँ केरल के प्रमुख दलित जातियों का उल्लेख किया गया है, जैसे कि 'तिय्या', 'पुलयन', 'मलयन', 'परयन' तथा 'धीवरन', 'कणियान्' जैसे अन्य जातियों का नाम, 'नायर', 'नम्बियार', 'नम्बूतिरी' जैसे केरल के तथाकथित सवर्ण जातियों का नाम अदि।

केरल के कुछ क्षेत्रों का नाम का उल्लेखन 'पोन्नानि'[55] (मलप्पुरम जिले का एक जगह का नाम), वल्लुवनाड, वैकम, कोषीकोड,

केरल कुछ आंदोलनों का नाम 'नायररेगुलेशन एक्ट'[56] (१९२० कोचीन), 'अलोहरि नियमम' (१९२४ तिरुवितांकूर), 'मरूमक्कत्ताय नियमम' (१९३३ मलबार) 'माप्पिलालहला'।

आमबोली के तथा सांस्कृतिक शब्दों का प्रयोग - 'वीड'[57] (घर), 'पुरा', 'चाला', 'माडा', 'चेरी' (कुटिया, झोंपड़ी), 'इल्लम', 'मना' (नम्बूतिरी अथवा ब्राह्मणों के भवन का नाम), 'माप्पिला' (मलाबार के मुस्लिम को कहा जाता है), 'तरवाड'

केरल के प्रमुख लेखक, रचना दलित लेखक आदि का नाम - 'मक्ति तंगल' (लेखक) 'कठोर कुठारम'(रचनाका नाम), वैकम मुहम्मद बशीर, देव और उनकी रचना अयल्क्कार (पडोसी), तकषी उनकी रचना कयर (रस्सी), एम.टी. वासुदेवन नायर (लेखक), 'इंदुलेखा' (मलयालम का पहला उदात्त उपन्यास), 'वल्लत्तोल' (कवी), दलित लेखक राघवन अत्तोली की कवितायेँ ('एयिलांडी', 'अरित्तेयी' आदि), उल्लूर (कवी), स्वदेशाभिमानी रामकृष्ण पिल्लै (मार्क्सवादी लेखक) आदि।

कलारूपों तथा अनुष्ठानों का उल्लेख - 'तेय्यम', 'तिरा' 'पड़यनी', 'गुलिकन' 'कावू' (जहाँ तेय्यम तिरा किया जाता है)[58], 'कथकली', 'कूत्त', 'कूडियाटम'

अनुष्ठानों में प्रयुक्त ताल वाद्य उपकरणों का नाम - 'चेंडा', 'इलात्तालम', 'तकिल', 'कुरुंगुशल'[59]।

55.दलित सौन्दर्यशास्त्रम, प्रदीपन पम्बिरिक्कुन्नु, पृ.सं.21
56.पृ.सं.19
57. पृ.सं. 20,21
58. पृ.सं. 21, 29, 45
59.पृ.सं. 35, 38, 40

आदिवासी जातियों का नाम - 'कुरिच्यर', 'पणियर', 'काटूनाय्क्कर', 'अडियर', 'मुंडा'[60] उनके अनुष्ठान जैसे 'पचकुत्त', 'गद्दिका' आदि।

आदिवासी दलित कलारूप और अनुष्ठान प्रकृति तथा साधारण जनता के रहन सहन से सम्बंधित है। प्रस्तुत पुस्तक में केरल के सांस्कृतिक परिवेश का चित्रण देकर एक तरह इतिहसपरक दृष्टि से सौन्दर्य के विश्लेषण करने का प्रयास किया है। सांस्कृतिक शब्दावली का विश्लेषण ऊपर दिया गया है। इसका अनुवाद करते समय समस्या ज़रूर हुई थी। क्योंकि इन शब्दों का हिंदी भाषा या संस्कृति से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए इन शब्दों का हुबहू लिप्यंतरण करना एक मार्ग था। शाब्दिक अनुवाद या भावानुवाद का प्रयोग यहाँ संभव नहीं है। उसी तरह मलयालम के कुछ कविताओं की पंक्तियों का भी उल्लेखन यहाँ लेखक ने दिया है, उसका संदर्भानुसार भावानुवाद किया गया है। जगहों का नाम, लेखक और उनकी रचनाओं का नामों का भी मैंने अनुवाद में लिप्यंतरण किया है। कुछ रचनाओं का लिप्यन्तरण करके कोष्ठक में उसका अर्थ देने का प्रयास किया है। जैसे कि तकषी की रचना है 'कयर' उसका अर्थ है रस्सी उनकी एक और रचना है 'अयल्क्कार' उसका अर्थ है पडोसी, इस तरह उन समस्याओं का हल निकालने का मैंने प्रयास किया है, ताकि सम्प्रेषण में आसानी हो। किन्तु कुछ रचनाओं का नाम ऐसे जिसका अनुवाद करना भी नामुमकिन था जैसे - 'एयिलांडी', 'अरित्तेयी' जैसे दलित कविताओं का नाम क्योंकि उन शब्दों का प्रयोग आम बोली में हुआ है। पुस्तक में चर्चित अन्य कलारूपों का नाम तथा अनुष्ठानों के नाम का उल्लेख, जैसे कि 'तेय्यम' शब्द जो है वह 'दैवं' शब्द का प्राकृत रूप है इसलिए उन शब्दों का उसी तरह अनुवाद में भी प्रयोग किया गया है।

जातियों के नाम का भी लिप्यंतरण ही हुआ है। क्योंकि भारत की विभिन्नता के अंतर्गत जातीय भिन्नता भी आती है। हर क्षेत्र में हर जाती का

60. दलित सौन्दर्यशास्त्रम, प्रदीपन पम्बिरिक्कुन्नु, पृ.सं. 59,61

नाम अलग अलग होता है। केरल में भी एक ही जाति का नाम क्षेत्र के अनुसार बदलता रहता है। 'तिय्या' (दलित जाति) को कहीं कहीं 'ईषव्' भी कहा जाता है, 'कनियान' को 'पणिक्कर' भी बोला जाता है। केरल में ब्रहामणों को 'नम्बूतिरी' कहते है। दरअसल यह भिन्नता ही यहाँ की विशेषता है। किन्तु अनुवाद के समय यह समस्या उत्पन्न करती है। सांस्कृतिक शब्दावली का अनुवाद में भी उसी तरह प्रयोग करना ही सही है, इससे मूल भाषा और पाठ का सौन्दर्य नष्ट नहीं होता है।

3.3.2 अननुवदानीयता

अननुवदनीयता से तात्पर्य है 'Untranslatability' अर्थात जहाँ अनुवाद संभव नहीं है। ऐसी स्थिति पर अनुवादक लिप्यंतरण का आश्रय लेते है। एक साहित्यिक रचना रचनाकार के मन और अभिव्यक्ति से होकर विभिन्न प्रक्रियायों के गुज़रकर पाठकों के सामने आती है। इसकी आनेक पृष्ठभूमि होती है, भाषिक, व्याकरणिक तथा सांस्कृतिक तत्वों को नज़रंदाज़ करके एक रचना का होना संभव नहीं है। वास्तव में संस्कृति के अननुवदानीयता भी अनुवाद के विषय में महत्वपूर्ण है। जैसे कि हम जानते है अनुवाद दो भाषाओँ के बीच में एक सांस्कृतिक सेतु का काम करता है।

एक भाषा को समझने से तातपर्य है समाज, संस्कृति, लोक, लोग आदि को जानना। एक अनुवादक के दो उत्तरदायित्व होता है स्रोत भाषा के साथ साथ लक्ष्य भाषा को भी जानना। संस्कृति को इस तरह भी परिभाषित कर सकते है है कि एक समाज के मानव मन को अलग करने वाला तत्व है संस्कृति। क्योंकि सांस्कृतिक रूप से एक एक व्यक्ति अलग अलग होता है, मनुष्य अपने संस्कृति के आधार पर ही चिंतन मनन करता है। एक लेखक के चिंतन मनन का अभिव्यक्तित संवेदनात्मक मूर्त रूप है उसकी रचना या कला सृष्टि। 'दलित सौन्दर्यशास्त्रं' बाकि रचनाओं की तरह सामाजिक परिप्रेक्ष्य में लिखा गया निबंध

संग्रह है। इसमें केरल के साहित्य एवं कला का इतिहास, आन्दोलन, मार्क्सवादी चिंतन अदि का भी चित्रण मिलता है। अनुवाद के समय इसी बात की मुझे सबसे बड़ी समस्या हुई थी, क्योंकि केरल के इतिहास को दूसरी भाषा में चित्रित करना आसान काम नहीं है। इतिहास भी संस्कृति का एक हिस्सा है। केरल का इतिहास मलयालम (जो केरल की भाषा है) में ही पूर्ण रूप से संप्रेषित कर पते है। प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने अपने लेखन की पूर्ण स्वातंत्रता के साथ बख़ूबी से अपना लेखन का कार्य किया है। किन्तु मूल भाषा से किसी दूसरी भाषा में पाठ को रूपांतरित करना मूल लेखन से भी कठिन है। यहाँ केवल पाठ को बल्कि एक संस्कृति एक समाज और एक स्थल के इतिहास को दूसरी भाषा में ला रहे है। इसलिए अनुवादक की ज़िम्मेदारी भी बढ़ जाती है, पाठ के मूल को नष्ट किये बिना दूसरी भाषा में रूपांतरित करना होता है।

शब्दावली वाक्य संरचना सांस्कृतिक अंतर आदि अनुवाद करते समय ज़रूर समस्या खडी कर देती है। किन्तु अनुवादक को मूल पाठ को लक्ष्य भाषा के ढांचे में डालना है। अननुवदनीयता के अंतर्गत वे सारे तत्व आते हैं जो स्रोत भाषा में हो लक्ष्य भाषा में नहीं। मलयालम भाषा और हिंदी का भी यही समस्या थी। किन्तु दोनों भारतीय भाषा होने के कारण संरचनात्मक दृष्टि से कहीं न कहीं समान है। यह समानता अनुवादक के लिए अनुग्रह सामान है। जहाँ अननुवदनीयता का सवाल उठता है वहां शब्दों का लिप्यंतरण किया गया है, उसका अर्थ कोष्टक और पाद टिप्पणी में देने का भी प्रयास किया गया है। कुछ जगहों पर जहाँ सारानुवाद मलयालम के कविताओं की पंक्तियों का उल्लेखन किया है, वहां तथा संदर्भानुसार भावानुवाद अपनाया गया है।

उपसंहार

दलित साहित्य विधा साहित्य में आज बहुत महत्वपूर्ण हिस्सा बन चूका है। इसलिए शोध के क्षेत्र में भी इस विषय पर कई महत्वपूर्ण एवं प्रासंगिक काम हो रहा है। भारत के लगभग सभी भाषाओँ में आज दलित साहित्य विद्यमान है। तुलनात्मक अध्ययन का भी दरवाज़े इस विषय पर खुला है। दलितों की अपनी प्रतिष्ठा के संघर्ष के लिए, समस्याओं के समाधान के लिए आन्दोलनों की तरह दलित साहित्य लिखना बहुत ज़रूरी है।

मलयालम में भी आज विकासशील साहित्य है दलित साहित्य। कविता, कहानी, निबंध, उपन्यास आदि विधाओं में मलयालम दलित साहित्य उभर आ रहा है। दलित साहित्य में नएपन लाने के लिए मलयालम दलित साहित्यकारों का हमेशा प्रयत्न रहा है।

मलयालम दलित साहित्य के लिए महत्वपूर्ण योगदान है प्रदीपन पम्बिरिक्कुन्नु का 'दलित सौन्दर्यशास्त्रम'। सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, मानसिक एवं शारीरिक रूप से शोषित एवं दमित एक प्रत्येक वर्ग की कला साहित्य में सौंदर्य का एहसास कराना भी दलित साहित्य का लक्ष्यों में से एक था। स्वयं दलितों को उनकी शोषण की कोई ख़बर नहीं थी। क्योंकि वे शिक्षा तथा लौकिक ज़िन्दगी की सुविधाओं से वंचित थे। नैतिक दृष्टि पर वे भी बाकि लोगों के सामान है। वर्ण एवं जाति के आधार का तत्व क्या है? किस नैतिकता की बात फिर साहित्य कर रहा था। एक प्रत्येक वर्ग को नकारने से समाज में किसका लाभ हो रहा है ? साहित्य का अंतिम लक्ष्य किसको खुश करना है ?

इन सारे सवालों का जवाब देने में प्रदीपन पम्बिरिक्कुन्नु ने अपने 'दलित सौन्दर्यशास्त्रम' द्वारा कई हद तक प्रयत्न किया है।

आज स्थिति में बदलाव आ रहा है। दलित अपने शोषण के प्रति सतर्क होने लगे हैं, इसका मुख्य कारण दलितों की नयी पीढ़ी का शिक्षित होना है। दलितों ने साहित्य के ज़रिये अपना क्रोध को व्यक्त करना शुरू किया। किन्तु साहित्य के क्षेत्र में बहस होने लगी थी, क्योंकि गैर दलित लेखक भी दलित लेखन में योगदान देने लगे। इस बात से दलित लेखन में और सेअल उठने लगे कि गैर दलितों से लिखा हुआ दलित लेखक को किस कोटि में रखना चाहिए। कुछ दलित आलोचकों का मानना है कि गैर दलित लेखकों द्वारा लिखा गया दालित समबन्धी साहित्य को 'दलित साहित्य' के अंतर्गत नहीं रखना चाहिए। वास्तव में 'स्वानुभूति' और 'सहानुभूति' दलित साहित्य के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण सवाल है। दलित साहित्य हमारी समाज व्यवस्था सन्स्क्रिति आदि पर भी प्रश्नचिन्ह लगाती है। दलित साहित्य का उद्देश्य केवल आनंद या मनोरंजन मात्र नहीं है। इनके लिए आनंद की परिभाषा अलग है। उसका सम्बन्ध काव्यशास्त्र के आनंद से नहीं है, बल्कि उस पर भी सवाल उठाना दलित साहित्य का लक्ष्य था। इसी दौरान 'दलित सौंदर्यशास्त्र' की अवधारणा का उदय होता है। वास्तव में नयी अवधारणाओं के साथ साहित्य का क्षेत्र और भी विस्तृत हो जाती है। दलित साहित्य तथा उसका सौंदर्यशास्त्र साहित्य के लिए नयी प्रेरणा है। समाज की तरह साहित्य का भी आधार जाति, धर्म, वर्ण एवं वर्ग था। साहित्य को इनसे मुक्त कराने में एक हद तक दलित साहित्य सफल हुआ है। साहित्य को वास्तविकता से ओतप्रोत होना चाहिए। रजा महाराजाओं का गुण गान का ज़माना हो चुका है। आनंद वास्तविकता से उत्पन्न होना चाहिए, जिसका अस्वादन समाज के हर कोई व्यक्ति कर सकें। पाप पुण्य के अंधविश्वास और अज्ञान के कठघरे में दलितों को सवर्ण समाज ने बंदी बना दिया। अंधविश्वास और भ्रष्टाचार को अपना दुर्भाग्य मानकर उस शोषित वर्ग

चुप चाप सहते आए। एक नये आन्दोलन जिसमें साधारण शोषित व्यक्ति नायक है, के उदय ने सवर्ण साहित्य और समाज को हिला दिया। उसको नीच, पिछड़ा, अज्ञानी तथा अशास्त्रीय कहकर निम्न कोटी में रखने का प्रयास मुख्यधारा समाज एवं साहित्य द्वारा निरंतर होता रहा।

समाज और नैतिकता के प्रति साहित्य का उत्तरदायित्व बहुत महत्वपूर्ण बात है तथा साहित्य को जागरूक रहना बहुत आवश्यक भी है। इसी उत्तरदायित्व का प्रतिफलन है 'दलित साहित्य' का उदय भी। दलित साहित्य और अवधारणा भी अपना एक 'पॉलिटिक्स' है। नए परिप्रेक्ष्य में सौंदर्यशास्त्र का अध्ययन बहुत आवश्यक था। दलित साहित्य की आवश्यकता पर जब सवाल उठता है तब उसका समर्थन तार्किक रूप से प्रस्तुत करना 'दलित सौंदर्यशास्त्र' का मुख्य लक्ष्य है। हर एक वास्तु की तरह साहित्य में भी नयेपन का मांग रहता है। दलित साहित्य में विषय और उसके अविष्कार में नयेपन लाना भी साहित्यकारों का उत्तरदायित्व है। इनके संघर्षों का परिणामस्वरूप समाज में परिवर्तन हो रहा है, किन्तु यह भी सवाल उठता है कि किस हद तक दलितों के संरक्षण और आरक्षण लागू हो रहा है। साहित्य में पहले दानव, राक्षस आदि के परिवेश में दलितों का चित्रण होता था। किन्तु आज उस परिवेश में परिवर्तन हो रहा है। शोध विषय के रूप में मलयालम निबंध संग्रह 'दलित सौन्दर्यशास्त्रम' को चुनने का मेरा मुख्य उद्देश्य भी यही परिवर्तन था। प्रस्तुत पुस्तक मलयालम साहित्य के मिथ्याडम्बर का पर्दाफाश करती है। केरल के तथाकथित सवर्ण 'नायर' 'नम्बूदिरी' के अधिकारों को हिलाकर रखने में दलित साहित्य एक सीमा तक सफल हुआ है। साहित्य का सबंध आम जनता से स्थापित किया गया। वास्तव में यह परिवर्तन आज के मलयालम सिनेमा में भी दर्शनीय है। सवर्ण नायक के स्थान पर आज साधारण व्यक्ति द्वारा नायक का चित्रण होने लगा है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि मलयालम सिनेमा में पहले दलितों की तथा मजदूरों की चर्चा नहीं होती थी। वर्ण वर्ग के आधार पर मनुष्य को

बाँटने की मूर्खता के विरुद्ध आवाज़ उठाना आवश्यक था। किन्तु उनकी आवाज़ को हमेशा दबाया गया। इसलिए जब तक उनके प्रति शोषण बंद नहीं होता तब तक क्रोध का स्वर गूंजता रहेगा। इसलिए समाज के उन सारे मनुष्य, जिनमें मनुष्यता अभी भी जीवित है, उनको एक होकर शोषितों का साथ देना चाहिए। दलित साहित्य का मुख्य मुद्दा भी समाज में एकता लाना है। किन्तु जाति पर आधारित सामाजिक व्यवस्था का मूल को हिलाना उतना भी आसन नहीं है।

हर भाषा में लिखित दलित साहित्य को एकत्रित होना चाहिए ताकि सोए हुए सामाजिकता को जागृत कर सके। साहित्य जैसे एक शास्त्र से पहुंचाए गए घाँव हो भरना इतना आसन भी नहीं है। विभिन्न भाषा के साहित्य और संस्कृति के बीच एक सेतु स्थापित करके एकता लाने का कार्य भी अनुवाद करता है। 'दलित सौन्दर्यशात्रम' के अनुवाद के ज़रिये मलयालम साहित्य एवं भाषा जगत के एक नए प्रयास को हिंदी में पुनःसृजित करने की कोशिश मैंने की है। यह मेरे लिए नया अनुभव था, तथा साहित्य और समाज के प्रति यह मेरा उत्तरदायित्व भी है। यह पुस्तक और इसके नवीन परिप्रेक्ष्य आगामी शोध कार्य की नयी संभावनाएँ देती है।

यह शोध कार्य हिंदी पाठकों के लिए भी नया अनुभव होगा। केरल की दलित आदिवासी संस्कृति कला को और जानने की इच्छा पाठकों में उत्पन्न होने की सम्भावनाएँ हैं। यह मलयालम साहित्य की लोकप्रियता के लिए नयी सफलता होगी। आशा करती हूँ यह शोध कार्य भी उस लोकप्रियता और सफलता के लिए कारण बनें।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. आधार ग्रन्थ

प्रदीपन पम्बिरिक्कुन्नु. दलित सौन्दर्यशास्त्रम. कोट्टायम: डी.सी.बुक्स, 2011

2. सहायक ग्रन्थ

i. भोलानाथ तिवारी. अनुवाद विज्ञान सिद्धांत एवं प्राविधि, जयन्ती प्रसाद नौटियाल(संपादक), नई दिल्ली किताबघरप्रकाशन, 2009

ii. ओम प्रकाश वाल्मीकि. दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र नई दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, 2005

iii. सौंदर्यशास्त्र के तत्व. कुमार विमल. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 1967

iii. जी.गोपीनाथन. अनुवाद सिद्धांत और प्रयोग. इलाहबाद: लोकभारती प्रकाशन, 2008

iv. के.सी. पुरुषोत्तमन. दलित साहित्य प्रस्थानम. त्रिश्शूर: केरल साहित्य अकादमी, 2008

v. Eileen Brennen (Translation). On Translation. London and New York: Routledge, 2006

vi. Rainer Schulte and John Biguenet (e.d). Theories of Translation an Anthology of essays from Dryden to Derrida. Chicago: University of Chicago, 1992

vii. शरण कुमार लिम्बाले. दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 2010

viii. एन.ई. विश्वनाथन अय्यर.अनुवाद भाषाएँ समस्याएं. दिल्ल्ली: ज्ञान गंगा,2011

ix. के.के. कोच्च. इडतुपक्षमिल्लात्तकालम. कोट्टायम: डी.सी.बुक्स, 2015

x. राघवन अत्तोली. करुप्पेषुत्तुकल. तिरुवनन्दपुरम: स्टेट इंस्टिट्यूट ऑफ़ लांगुएजेस, 2015

3.कोश

i. नीलकंठन नायर. वी.जे. शशिधरन आचारी (संपादक). मलयालम हिंदी इंग्लिश कोश. कोट्टायम: डी.सी.बुक्स, 2008

ii. पी. राधाकृष्णन. मलयालम हिंदी कोश. त्रिश्शूर: एच.सी.बुक्स, 2015

4.वेब साईट

i. Kanji Kitamura. Cultural Untranslatability (Translation Journal, volume 13). Web. https://translationjournal.net/journal/49translatability.htm